Year 3, Issue 11
July-Sept. 2006

VASUDHA A CANADIAN PUBLICATION

EDITOR - PUBLISHER : SNEH THAKORE

कैनेडा से प्रकाशित साहित्यिक पत्रिका

वसुधा

संपादन व प्रकाशन
स्नेह ठाकुर

वर्ष ३ - अंक ११, जुलाई-सितम्बर २००६

वसुधा
संपादन व प्रकाशन : स्नेह ठाकुर

शीर्षक	रचयिता	पृष्ठ
संपादकीय		२
भाषा, साहित्य, कला, दर्शन, मूल्य, जीवन, संस्कृति और सभ्यता	डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी	४
हिन्दी भाषा	इन्दु गुप्ता	८
घर की यादों के जले दीप	डॉ. धनंजय सिंह	९
जगदंबा बाबू गाँव आ रहे हैं	चित्रा मुद्‌गल	१०
दूर अपने आप से....	रचना मिश्रा	१९
युद्ध के बाद एक अकेली ल की	डॉ. मुक्ता	२०
'आंतरिक ऊर्जा के बिना लेखन नहीं होता' कमलेश्वर जी से आत्मीय संवाद	डॉ. संतोष गोयल	२१
तन्हा-तन्हा	रश्मि सानन	३०
पूर्णत्व की प्राप्ति	दिनेशनन्दिनी डालमिया	३१
गीली माटी	ज्योति कालरा 'उम्मीद'	३२
सपनों की दुनिया	देवेन्द्र कुमार देवेश	३३
टुक ों-टुक ों में	माधुरी मिश्रा 'अदिति'	३४
स्यापा मुका	विष्णु प्रभाकर	३५
मंदिर	मधुप मोहता	३८
स्त्री	सुशीला पुरी	३८
स्वतंत्रता दिवस पर हमारा संदेश	विष्णु नागर	३९
श्रद्धांजलि	पाराशर गौ	४०
रुको पथिक	सरन घई	४१
सहारे	कमल कपूर	४२
खुली आँख सपने देखें	सावित्री शर्मा	४२
मेरा सपना	आशमा कौल	४३
धरा हमारी	अंजु दुआ जैमिनी	४४

रचनाओं में निहित विचार तथा मन्तव्य रचनाकारों के निजी विचार तथा मन्तव्य हैं। 'वसुधा' रचनाकारों के विचारों के लिए उत्तरदायी नहीं है। प्रकाशक की आज्ञा बिना कोई रचना किसी प्रकार उद्धृत नहीं की जानी चाहिए। प्रकाशित रचनाओं पर कोई पारिश्रमिक नहीं दिया जाएगा।

रचनाएँ भेजने के लिए सम्पर्क पता :
16 Revlis Crescent, Toronto, Ontario M1V-1E9, Canada. TEL. 416-291-9534

वार्षिक शुल्क Annual subscription..........$20.00
डाक द्वारा By Mail...............................$25.00

सम्पादकीय (अंक ११, जुलाई-सितम्बर २००६)

इस बार संपादकीय के लिए उठाई गई कलम किसी भी और दिशा में चलने से मुकर गई। केवल और केवल भावना-स्त्रोत से निकले स्नेह-सिक्त तरल पदार्थ में ही डूब-डूबकर वहाँ से भारत माँ के प्रांगण में मिले प्यार और दुलार के मोतियों को ही शब्दों की ल ी में पिरोने के लिए मचल उठी।

अपनी भारत यात्रा के दौरान निःसंदेह, पारिवारिक एवं मैत्रीय संबंधों की प्रेम-सरिता में डुबकियाँ लगाई ही लगाईं, साथ ही साहित्यिक क्षुधा भी तृप्त हुई। हालाँकि यह ऐसी तृषा है कि जितना ज्यादा पियो उतनी ही ज्यादा तृष्णा बढ़ती ही जाती है।

श्री लक्ष्मीमल्ल सिंघवी एवं श्रीमती कमला सिंघवी जी ने अपने निवास-स्थान पर प्रेम से परिपूर्ण आतिथ्य से ठाकुर साहब व मुझे अभिभूत तो किया ही पर साथ ही साथ जब वो हमें डॉ. श्याम सिंह शशि द्वारा, ऑल इंडिया फाइन आर्ट्स् एंड क्राफ्ट्स् सोसायटी न्यू दिल्ली में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय रोमा चित्रकला प्रदर्शनी में ले गये थे, उस समय वार्ता के दौरान उन्होंने एक अमूल्य शब्द अनायास ही मेरी झोली में डाल दिया - वह शब्द था - 'भारतवंशी'। प्रवास में रहते हुए स्वयं को 'प्रवासी' या 'आप्रवासी भारतीय' कहलाते हुए यह शब्द-शूल कभी न कभी चुभता अवश्य है। इसकी जगह 'भारतवंशी' सम्बोधन शब्द ब ा ही मधुर एवं सटीक लगा और मैंने तत्काल वहीं संकल्प लिया कि अब स्वयं को 'भारतवंशी' ही कहूँगी और कहलवाऊँगी।

श्रद्धेय विष्णु प्रभाकर जी का आशिर्वाद भरा हाथ सर पर पाया तो हृदय गद्गद् हो उठा। पुत्रवधु अनुराधा और पौत्री श्वेता ने समय को और भी मोहक बना दिया तो सौभाग्य इठला उठा। नज़र लग गई। कैमरे की काणी आँख से जिस कमाल की अपेक्षा थी वो कुछ न हुआ। सभी तस्वीरें काली स्लेट-सी आईं।

नरेन्द्र कोहली जी व मधु जी के सान्निध्य में कब दोपहर से शाम हुई और शाम से रात, पता ही न चला। पुत्र कार्त्तिकेय, पुत्रवधु वंदना और दो प्यारे-प्यारे पोते नचिकेता व भृगु ने समय के उस अंतराल को सोने पे सुहागे से भर दिया।

ऋचा की संपादिका संतोष जी व संस्थापक एवं प्रधान संपादिका श्रीमती दिनेशनंदिनी डालमिया दीदी ने डालमिया-हाउस में हुई साहित्यिक संगोष्ठी में आमंत्रित कर न केवल साहित्यिक-क्षुधा का भरण-पोषण किया, वरन् संगोष्ठी से पहले भी दोनों ने ही व्यक्तिगत आत्मीयता से अभिभूत किया।

'नारी अभिव्यक्ति मंच' की अध्यक्षा श्रीमती कमल कपूर के कथा-संग्रह 'छाँव' के विमोचन करने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ जिसका कुशल संचालन श्रीमती ज्योति कालरा ने किया। साथ ही यह मेरा सौभाग्य था कि अंजु दुआ की एकल कहानी-संग्रह वाली कथा-संसार पत्रिका के लिए भी मुझे मुख्य अतिथि के रूप में सम्मानित किया गया। 'नारी अभिव्यक्ति मंच' की अन्य सदस्याओं इंदु जी, माधुरी जी, आशमा जी, सुदर्शन जी, रश्मि जी, कुमुद जी, चमेली जी, शारदा जी, ऊषा जी, मीनाक्षी जी, अदिति जी, कला जी, कांता जी, राजकरणी जी, सोनाली जी की भावभीनी अभिव्यक्तियों ने हृदय में प्रेम संचरित किया।

समाचारपत्रों के संवाददाताओं व अनिल जी, चंद्रभान जी एवं जयंती जी से साहित्यिक परिदृश्य पर हुई वार्ता ब ी रोचक व संस्मरणीय थी।

नारी दिवस के उपलक्ष्य में लखनऊ की साहित्य-समिति के तत्वावधान में सुश्री रचना मिश्रा ने संगोष्ठी आयोजित की जो रमा सिंह जी की अध्यक्षता व शीला जी के संचालन में संपन्न हुई, उसमें मुझे मुख्य अतिथि होने का सौभाग्य प्रदान किया गया। सभी उपस्थित प्रतिभाशाली कवयित्रियों ने, सुशीला जी, सावित्री जी, अर्चना जी, नीलम जी, मंजु जी, रमा जी, शीला जी, रचना जी, सुषमा जी एवं अन्य कवयित्रियों ने कविता पाठ कर मंत्रमुग्ध किया।

शुक्ला परिवार ने लखनऊ व अयोध्या के नयनाभिरामों से परिचित कराया।

नारी दिवस पर दिल्ली की शांति सहयोग संस्था जिसमें श्रीमती ऋषि बहुत सक्रिय हैं, ने एक वार्ता पैनॅल् का सफल आयोजन किया। पैनॅल् में गुरशरण कौर, शबाना आज़मी, शेख़ फ़ारुक अबदुल्ला, स्मृति इरानी व सपना ने अपने दृष्टिकोंण प्रस्तुत किये।

हमेशा की तरह इस बार भी परेशनाथ जी अपनी उसी सदाबहार मुस्कान के साथ मिले। उनके द्वारा किया गया आत्मीयतापूर्ण उत्साहवर्धन एवं मार्गदर्शन मेरा अनमोल सौभाग्य है।

विष्णु नागर जी, धनंजय जी, क्षमा जी, अरुण जी सभी ने जिस आत्मीयता की सुगंध बिखेरी वह भाव-भीनी सुगंध हमेशा बनी रहेगी।

जहाँ माननीय नारंग जी ने उत्साह बढ़ाया वहीं देवेन्द्र कुमार देवेश शुभचिन्तक देवदूत के रूप में उभरे।

हिमांशु जोशी जी ने अपने अत्यंत व्यस्त कार्यक्रम से भी समय निकाला। उनके साथ साहित्य, समाज, राजनीति आदि अनेक विषयों पर हुई वार्ता अविस्मरणीय धरोहर के रूप में रहेगी।

चित्रा मुद्गल जी ने हमारे बीच हुये संवाद को 'आत्मीयतापूर्ण बतियाने' की संज्ञा दी। उनके साथ हुआ वार्तालाप - नहीं, नही - 'बतियाना' जब भी याद आता है ह्रदय गुदगुदा जाता है, स्मित हास्य होंठों पर खिल जाता है।

कमलेश्वर जी ने न केवल अपना बहुमूल्य समय मुझसे बाँटा, अपने साक्षात्कार व रचनाओं को प्रकाशित करने की सहर्ष अनुमति दे दी। उनसे हुई वार्ता की सहजता अनायास ही वशीभूत कर लेती है।

अरुण जी जिस आत्मीयता से मिले वह थाती सहेजने योग्य है।

मोनिका मोहता जी, मधु गोस्वामी जी, भारतभूषण जी, अनिल जी, पीयूष जी अपरिचित से परिचित आत्मीय बन गये।

अस्वस्थता के कारण कुछ स्थलों पर जाना संभव न हो सका। अतः खेद होना स्वाभाविक था। परन्तु भारत के विभिन्न भागों से आये, मधुप जी, सुधा जी, दामोदर जी, जवाहर इंदु जी, करुणा जी, मुक्ता जी के दूरभाष वार्तालापों ने अस्वस्थ शरीर के मन को स्वस्थ व पुलकित किया।

साहित्यिक यात्रा के अनेक प ावों की इन मधुर स्मृतियों के लिए ठाकुर साहब और मैं ह्रदय से आभारी हैं। क्या भूलूँ क्या याद रखूँ का प्रश्न ही नहीं उठता। ये सारी स्मृतियाँ तो चिरस्मरणीय ही रहेंगी।

सस्नेह,
स्नेह ठाकुर

भाषा, साहित्य, कला, दर्शन, मूल्य, जीवन, संस्कृति और सभ्यता

डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी

भाषा के बिना साहित्य की कल्पना नहीं हो सकती। भाषा और साहित्य के बिना कला, दर्शन और संस्कृति का विकास और स्वरूप अकल्पनीय है। अंततः भाषा, कला, साहित्य, दर्शन एवं संस्कृति की विराट् आधारशिला पर सभ्यता और अस्मिता का परिचय देते हैं। भाषा और साहित्य इस श्रृंखला में कितनी प्रामाणिक एवं महत्वपूर्ण कड़ियाँ हैं, यह नतत्त्वशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र, अर्थशास्त्र, इतिहासशास्त्र, धर्मशास्त्र एवं विज्ञानशास्त्र की मूल्य अवधारणाओं का विषय है। भाषा, साहित्य, धर्म, राजनीति, अर्थव्यवस्था, दार्शनिक विवेचन, संस्कृति, जीवन और सभ्यता अलग-विलग नहीं हैं बल्कि परस्पर एक विराट् एवं समग्र अखंडता में समाविष्ट हैं। यह विराट् समग्रता एवं अखंडता की अवधारणा भारतीय ज्ञान, विज्ञान एवं मनीषा की एक विशिष्ट उपलब्धि है। भारतीय मनीषा अखंड और समग्र की दृष्टि को सृष्टि की सर्वांगीण एवं सर्वतोमुखी परस्परता एवं सम्पूर्णता का परिचायक मानती रही है। उस मान्यता का अर्थ है कि भाषा, साहित्य, कला दर्शन, जीवन और संस्कृति सभ्यता के अलग-थलग डिब्बे नहीं हैं, बल्कि वे एक ही रेल में एक साथ जुड़े हुए हैं और एक साथ चलते हैं। उस रेल का एक उद्देश्य है, एक लक्ष्य है, एक पटरी है, कई स्टेशन हैं, कई जंक्शन हैं, कई वर्ग हैं। कई प्रकार के यात्री हैं, जिनके व्यष्टिगत या पारिवारिक या सामुदायिक मंतव्य हैं; किंतु रेल के विभिन्न गंतव्य और अंतिम विराम उनको एक ही दिशा में ले जाते हैं।

भाषा, साहित्य, दर्शन, कला और संस्कृति का एक अन्योन्याश्रित समागम संबंध है, जो अस्मिताओं को बनाता और परिभाषित करता है। श्रद्धेय आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने गहराई के साथ शब्दों और भाषा की रहस्यमयी भूमिकाओं को समझा था। 'आलोकपर्व' में उन्होंने लिखा है -

"भाषा में प्रयुक्त एक-एक शब्द, एक-एक स्वराघात कुछ सूचना देते हैं। व्यक्तियों के नाम, पुराने गाँवों के नाम, कुलों या खानदानों के नाम जीवंत इतिहास के साक्षी हैं। हमारे रीति-रस्म, पहनावे, मेले, गान, नाच, पर्व, त्योहार, उत्सव हमारे पुराने इतिहास की कथा सुना जाते हैं।"

आज की भाषा में जिस प्रकार हर कदम पर अँग्रेजी शब्दों का अनाधिकार व अस्वाभाविक प्रयोग बढ़ रहा है, इसे देखते-सुनते स्वयं सर्वथा शुद्धतावादी न होते हुए भी, मुझे महात्मा गाँधी की यह टिप्पणी अत्यंत सटीक और प्रासंगिक प्रतीत होती है - "किसी भाषा के शब्दों को अपना लेने में शर्म की कोई बात नहीं है। शर्म तो तब है जब हम अपनी भाषा के प्रचलित शब्दों को न जानने के कारण दूसरी भाषा के शब्दों का प्रयोग करें। जैसे 'घर' शब्द को भुलाकर 'हाउस' कहें, माता को 'मदर' कहें, 'पिता' को 'फादर' कहें, 'पति' को 'हस्बैंड' और 'पत्नी' को 'वाइफ' कहें।"

आज जो आम तौर पर भारत में प्रचलित हो रहा है, उस संबंध में डॉ. रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'भाषा और समाज' में स्पष्टतः लिखा है कि जब कोई विजित जाति अपनी भाषा के शब्दों को ठुकरा दे और विजेता की भाषा के व्यवहार पर गर्व करे तो इसे गुलामी का चिह्न मानना चाहिए। यथार्थ तो यह है कि यह गुलामी का चिह्न हमारे माथे का टीका बन गया है। हमारी भाषा में नये शब्द ग्रहण करें, उनको अभ्यास में रवाँ करें, इसमें कोई दुविधा नहीं है। मैं नहीं कहता कि रेल को 'लौहपथगामिनी' कहा जाए, न यह अपेक्षा करता हूँ कि हर हालत में हम हर शब्द का संस्कृतनिष्ठ अनुवाद ही करें और अँग्रेजी या दूसरी भाषा के शब्दों को अछूत समझकर बहिष्कार करें।

आचार्य रघुवीर, जिनका शताब्दी वर्ष उपेक्षा में विस्मृत हो गया, उन्होंने समझाया था कि नासमझी में किसी मूल शब्द को उधार लें तो फिर इसके साथ हमें कई सारे शब्द भी उधार लेने पड़ेंगे, जो शायद हमारी भाषा, व्याकरण एवं प्रयोग में ठीक से जुड़ नहीं पाते।

मर्म की बात कही थी अज्ञेयजी ने - "हम भाषा को नहीं बनाते, भाषा ही हमको बनाती है। थो` से प्रयोजनीय शब्द गढ़ लेना भाषा बनाना नहीं है, वह केवल अपनी सुविधा बनाना है।"

मैं समझता हूँ कि इस सुविधा में भी एक सिद्धांत अंतर्निहित है। मुझे अपने संसदीय जीवन के चौवालीस-पैंतालीस वर्ष पहले का एक प्रसंग याद आता है। मैं तब लोकसभा का निर्दलीय सदस्य था, निर्दलीय सांसदों का प्रवक्ता भी। अँग्रेजी में मैंने अपना संकल्प रखा कि हमें भारत में अच्छे दायित्वपूर्ण एवं संवेदनशील शासन के लिए ओम्बड्समैन (OMBUDSMAN) संस्थान की स्थापना करनी चाहिए। पं. जवाहरलाल नेहरू तब हमारे प्रधानमंत्री एवं सदन के नेता थे। उनका विशेष निजी स्नेह एवं प्रोत्साहन मुझे बराबर मिलता रहा। मैंने जब अँग्रेजी में एक संकल्प प्रस्तुत किया और देश की संसद् में पहली बार इस चर्चा का प्रवर्तन किया कि अच्छे प्रशासन के लिए और सार्वजनिक शिकायतों के निवारण एवं समाधान के लिए एक संस्थान बनाया जाए; मेरा संकल्प अँग्रेजी में था इसलिए मैंने संकल्प में मूल स्वीडिश शब्द 'ओम्बड्समैन' का प्रयोग किया। पंडितजी ने पहले तो मुझसे पूछा कि यह नया पशु कौन से अजायबघर से लाये हो, और फिर कहा, 'डॉ. सिंघवी, यदि इस नये संस्थान को यहाँ स्थापित करना चाहते हो तो यहाँ की भाषा में सबको समझ में आए, ऐसा नाम इसे देना होगा।' मैंने उनसे दो सप्ताह का समय माँगा। इसी सप्ताह में मैंने दो शब्द गढ़कर उनको भेजे. 'लोकपाल' और 'लोकायुक्त'। उनको मेरी सोच और वे दोनों शब्द अच्छे लगे। बात चल निकली। आज भी हमारी शब्दावली में वे शब्द मान्य हैं, क्योंकि वे लोक से जु` हुए हैं। शब्दों का, भाषा का, साहित्य का, संस्कृति का लोक से जु ाव उनको जीवित बनाता है, स्थायी और दीर्घजीवी बनाता है। किंतु सच और यथार्थ यह है कि हमने समकालीन संदर्भों में अपनी भाषा में शब्द बनाने का, उनको प्रचलित और आत्मसात् करने का कोई प्रतिबद्ध एवं संकल्पशील प्रयत्न ही नहीं किया। वह प्रयास पुण्यश्लोक डॉ.रघुवीर ने किया था। हमारी भाषाओं में विराट् और विपुल क्षमता है; किंतु औपनिवेशिक दासता के चलते नाथूराम शर्मा के शब्दों में -

"स्वाभाविक भाषा का हमको न मिला प्रचुर प्रसाद।
शब्द पराए बोल रहे हैं कर वार्णिक अनुवाद।।"

हमारा समय और सोच वैश्विक है, किंतु वही समय, वही सोच और वही भूमंडल हमारी भाषा में समाविष्ट होगा तो अधिक अपना होगा।

अज्ञेयजी ने कहा था - "भाषा कल्पवृक्ष है - जो इससे आस्थापूर्वक माँगा जाता है, भाषा वह देती है. . . .इससे कुछ माँगा ही न जाए, क्योंकि वह पे से लटका हुआ नहीं दीख रहा है, तो कल्पवृक्ष भी कुछ नहीं देता।"

यह सच है कि "समाज को अनिवार्यतः अपनी भाषा में ही जीना होता है"; किंतु आज भारत में अपनी भाषा में जीने की ललक नहीं है; हमारा आत्मबोध, अस्मिताबोध और स्वाभिमान कुंठित एवं अवरुद्ध है। कलाकार के धर्म की चर्चा करते हुए कवीन्द्र रवीन्द्र ने कहा था कि "भाषाएँ अपने सर्वोत्तम कोष उन लोगों को नहीं देती हैं जो किसी प्रतिद्वंद्वी पक्ष के माध्यम से संबंध बनाने का प्रयत्न करते हैं। हमें अपनी भाषाओं के साथ प्रत्यक्ष प्रणय करना होता है, उनके इंगित पर नृत्य करना होता है, उनके पास अपनी हाजिरी देनी प ती है।"

आज की हमारी भारतीय चेतना में भाषानुराग, भाषाभक्ति और भाषा की अराधना की वह ललक पिछले हज़ार वर्षों में आक्रांत होती रही; किंतु अँग्रेजों के आधिपत्य में विशेषतया वह राज्य-यक्ष्मा से पी ित होकर क्षीण हो गई, साँसत में प गई, यद्यपि अपनी भाषाओं को दाँव पर लगाकर हमारे अभिजात वर्ग को एक वैश्विक भाषा में महारत तो मिली। इसी कारण वर्ग-वैषम्य बढ़ा, शासन और शासित के बीच दूरियाँ इतनी वृहदाकार हुईं कि मानो वामन ने तीनों लोक नाप लिये।

अँग्रेज़ी भाषा मेरी अत्यंत प्रिय और चहेती भाषा है, किंतु अँग्रेज़ी द्वारा हमारी मातृभाषाओं के अपदस्थ होने का प्रकरण मेरे अस्मिताबोध को व्यथित करता है। हिंदी के लिए महात्मा गाँधी का सपना साकार नहीं हुआ; बचा है स्मृतिशेष मूल सांविधानिक प्रतिज्ञा का भग्नावशेष।

हिंदी को और अन्य भारतीय भाषाओं को आज भी जनगण की भाषा होने का गौरव प्राप्त है; किंतु हिंदी को जिस प्रकार अनिश्चितकाल के लिए वनवास दे दिया गया, वह एक अक्षम्य एवं अविस्मरणीय राष्ट्रीय विभीषिका के रूप में मेरे स्मृति-पटल पर अंकित है। हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं को हमने संविधान की एक परिशिष्ट सूची में सम्मिलित तो किया, किंतु उसकी गरिमा को प्रभावी रूप से प्रतिष्ठित करना अभी शेष है। आज भी मत माँगने के लिए राजनीतिज्ञों के पास भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त कोई चारा नहीं है, किंतु शासन और शिक्षा में भारतीय भाषाएँ निरंतर हाशिए पर ढकेली जा रही हैं। द्रुतगति से शिक्षा में अँग्रेज़ी माध्यम का विस्तार हो रहा है, बल्कि भारतीय भाषाओं की ओर विशेष मनोयोग नहीं दिया जा रहा है। इसे दिशा और संकल्पशक्ति का संकट मानना चाहिए।

सरकार समझती है कि तमिल, संस्कृत एवं तेलुगू को क्लासिकल भाषा घोषित कर देने मात्र से उन्होंने एक मील का पत्थर रोप दिया है। सच तो यह है कि भारतीय भाषाओं और साहित्य के प्रति सरकार और समाज की उदासीनता का साक्ष्य उनको अपराधी के कठघरे में ख ा करने के लिए पर्याप्त है। कारण यह है कि हमारी राजनीति में भारत की सभी सरकारों में और शासन-पद्धति में सांस्कृतिक चेतना का एक भयंकर अभाव और त्रासद अकाल रहा है। संस्कृत भाषा और साहित्य की अवमानना, अवज्ञा, उपेक्षा और अवहेलना एक ऐसा संतापदायक उदाहरण है जिसके लिए देश की चुनी हुई सरकारें, संसद, शासन और तथाकथित सरकारी शिक्षाविदों की जितनी भर्त्सना की जाए, थो ी होगी।

डॉ. सुनीतिकुमार चट्टोपाध्याय की अध्यक्षता में तत्कालीन शिक्षामंत्री मौलाना अबुल कलाम आजाद ने जो संस्कृत आयोग स्थापित किया था उसकी रपट एक ऐतिहासिक दस्तावेज़ है। प्रो. राममूर्ति शर्मा के संयोजन में संस्कृत श्वेतपत्र भी संस्कृत भाषा के विकास और राह के काँटों का मानचित्र प्रस्तुत करता है।

थो ी देर के लिए विदेशी औपनिवेशिक आधिपत्य की बात दरकिनार कर दें तो स्वतंत्रता के बाद संस्कृत, प्राकृत और पालि की जम कर जो उपेक्षा हुई है, वह सांस्कृतिक दृष्टि से आत्मघाती दास्य मनोवृत्ति का सूचक है। मुझे स्वयं पाठ्यक्रम में संस्कृत को बचाने के लिए सर्वोच्च न्यायालय की शरण लेनी प ी। आजकल 'धर्मनिरपेक्षता' के नाम पर संस्कृत के विरुद्ध मुहिम चल रही है, क्योंकि अनपढ़ अभिजात वर्ग द्वारा यह कहा जाता है कि संस्कृत तो हिन्दू धर्म की भाषा है। मुझे स्मरण आता है कि जब श्री नरसिंह राव प्रधानमंत्री थे और श्री अर्जुन सिंह मानव संसाधन मंत्री थे और उनके मंत्रालय ने और उनके अधिवक्ता ने सर्वोच्च न्यायालय में यह शपथ-पत्र दिया कि यदि वैकल्पित रूप में भी संस्कृत का पठन-पाठन होगा तो हमारी 'धर्मनिरपेक्षता' पर आँच आएगी और फिर हमें अरबी, लैटिन, हिब्रू, फारसी भी समान रूप से पढ़ाना अनिवार्य होगा। सर्वोच्च न्यायालय ने इस कुतर्क को नकारा और धिक्कारा। किंतु मसल है कि राजहठ श्वान की पूँछ की तरह सीधा होना जानता ही नहीं। इसमें दोष हमारे पूरे समाज का भी है जिसकी सांस्कृतिक उदासीनता के दलदल में हमारा अस्मिता-बोध धँसता जा रहा है। हम लोग इतनी ठं ी मिट्टी के बने हुए हैं कि हमारे राजनेता और प्रशासक हमारी संवेदनाओं को कुचलते-रौंदते अपसंस्कृति का जयघोष करते चले जाते हैं और हमारे पुण्य प्रकोप की चिन्गारियाँ उनको भस्मीभूत करने को उद्यत नहीं होतीं। 'उत्तिष्ठत् जाग्रत् प्राप्य वरान्निबोधत' एक विस्मृत उद्‌बोधन हो गया है।

भाषा के रूप में सर विलियम जोन्स ने संस्कृत भाषा की प्रशस्ति में कहा था कि वह ग्रीक भाषा से अधिक पूर्ण, लैटिन भाषा की अपेक्षा अधिक संपन्न और दोनों की तुलना में अधिक परिष्कृत है; किंतु ब्रिटेन के औपनिवेशिक आधिपत्य से लेकर आज तक उसका अध्ययन कम होता गया है और

आज तो संस्कृत भाषा का अस्तित्व और भविष्य खतरे में है, जबकि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, "संस्कृत का साहित्य वह उच्च गिरिश्रृंग है जिस पर चढ़कर मनुष्य काल के सुदीर्घ स्त्रोत को ब ी दूर तक देख सकता है।" विषाद का विषय यह है कि आज संस्कृत भाषा एवं साहित्य के उन उत्तुंग गिरिश्रृंगों के प्रति सरकार और समाज सर्वथा उदासीन हैं। भारतीय भाषाओं का एकमात्र मूल संस्कृत ही है और यह समझने की आवश्यकता है कि मूल यदि लुप्त हो गया तो शाखाएँ कैसे जीवित रहेंगी? भट्ट मथुरानाथ शास्त्रीजी ने ठीक ही लिखा था कि -

"यथा लोके वेदाः परिकलित भेदाः प्रकटिताः
स्मृतीनां धात्री या प्रसवनकरी योपनिषदाम्।
समस्त त्रैलोक्ये ह्युपदिशति याऽऽध्यात्मिकंपथम्
स्फुरद्दिव्य ज्योतिर्जगति जयतान्निर्जरगिरा।।"

किंतु आज राजनीति के अँधेरे में नासमझ एवं लघुचेतस् (मूढ़) शासकों के हाथों में दिव्य ज्योतिर्मय देववाणी की विडंबनाएँ हमें व्यथित करती हैं। उन विडंबनाओं के अतिरिक्त भारतीय भाषाओं के साथ-साथ भारतीय साहित्य के संकट भी कुछ कम नहीं हैं। हमारा साहित्य सदियों से भारतीय संस्कृति का सहारा एवं संवाहक रहा है। किंतु भाषाओं की शक्ति तथा प्रचलन, प्रयोग और विस्तार यदि क्षीण होता चला गया तो साहित्य का वह सहारा और संवाहक कैसे बचेगा और यदि हमारा साहित्य नहीं बचेगा तो क्या हमारा सोच, हमारी संवेदना, हमारी अस्मिता बच पाएँगे? जीवन के मर्म को समझने के लिए, इस पर विचार और विमर्श के लिए, उसकी व्याख्या के लिए, मंथन और चिंतन के लिए यदि हमारी भाषाएँ और हमारा साहित्य दरिद्र और विपन्न हो गए तो देश की मानसिक स्वाधीनता तथा देश की लोकतांत्रिक व्यवस्था का क्या होगा? कहाँ से आएँगे सुरुचि के निकष? कहाँ से आएगी मनुष्यता के हृदय की वह बेचैनी? कहाँ से आएगा ज़मीन से जु ा हुआ चिंतन और मंथन? कहाँ से और कैसे बहेगी जीवन-मूल्यों की स्त्रोतस्विनी? साहित्य एवं संवेदना के संबल के अभाव में सत्यं शिवं सुंदरम् की प्रामाणिक साधना असंभव हो जाएगी, यह सुनिश्चित है।

भाषा, साहित्य, दर्शन और संस्कृति का दौर्बल्य, सौन्दर्य-बोध, कलात्मकता और सर्जनात्मकता को निर्जीव एवं निष्प्राण कर सकता है, सम्यक् सामाजिक दृष्टि और सक्षम कर्म-कौशल को विनष्ट कर सकता है और जिसे हम भारतीय जीवन-शैली, भारतीय संस्कृति और भारतीय सभ्यता कहकर गर्व का अनुभव करते हैं वह या तो पतन के गहरे गर्त में गिर जायेगी या विलुप्त हो जायेगी; क्योंकि भाषा, साहित्य, दर्शन, कला, साधना, तपस्या एवं संस्कृति मिलकर वह बात बनाते हैं जिसके लिए शायर इकबाल ने भारतीय सोच के अपने सोपान में कहा था कि "कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।" संस्कृति और सभ्यता की हमारी वह हस्ती आज संकट में है, क्योंकि आज हम सामूहिक एवं राष्ट्रीय स्तर पर व्यर्थ के विवादों से घिरे हुए हैं और लगता है कि पूर्वाग्रहमुक्त, निश्छल, निर्मल, विवेक-संपन्न, समग्र राष्ट्रीय सोच की क्षमता खो बैठे हैं; किंतु सारे छल-प्रपंच के बीच आज भी मैं स्वामी विवेकानंद के सम्मोहक शब्दों का संगीत सुनता हूँ। जैसे वे कह रहे हैं कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति को फिर से जीवन के उद्गम और स्त्रोत के मुक्त चैतन्य में स्वाभिमान सहित आत्मस्थ जीवन जीना सीखना होगा।

हिन्दी भाषा

इन्दु गुप्ता

जय हिन्दी भाषा
जन-जन की अभिलाषा
प्राण-वायु हो
चिरायु हो
हो राष्ट्रधारा
अभिव्यक्ति का सहारा
संकल्प हमारा।
ठण्डी बयार-सी
गीत मल्हार-सी
अजस्त्र संगीत
जीवन-ऊर्जा का गीत
निर्झर की झंकार
तुझसे उद्बुद्ध विचार
वाणी की सहचरी
काव्य की मञ्जरी
कला, साहित्य, ज्ञान का उद्भास
सरस माधुर्य का अहसास
शब्द-ज्ञान का भण्डार
तुम हमारा अभिमान।
अलग जाति-धर्म परिधान
तुम ऐक्य-सूत्र हमारा
संस्कृति की धरोहर
बढ़े सम्मान तुम्हारा।

घर की यादों के जले दीप

डा. धनंजय सिंह

घर की देहरी पर छूट गये
संवाद याद यों आएँगे
यात्राएँ छो बीच में ही
लौटना प`गा फिर-फिर घर
यह आँगन धन्यवाद देकर
मन ही मन यों मुस्कायेगा
यात्राएँ सभी अधूरी हैं
तू लौट यहीं फिर आयेगा
ओ जाने वाले परदेसी
ये पथ तुझको भरमाएँगे
घर की यादों के जले दीप
रेती में आग लगायेंगे
छालों को छीलेंगे तेरे
सपनों के महलों के खंडहर
लौटना प`गा फिर-फिर घर
ये विदा समय की नम पलकें
हारे कंधे थपकायेंगी
गोधूलि-सनी घंटियाँ तुझे
पगडंडी पर ले आएँगी
तुलसी चौरे के पास जला
दीवा सूरज बन जायेगा
तुतली बोली वाला छौना
प्राणों में हूक जगायेगा
कस्तूरी से गँधाते पल
टेरेंगे रे हिरना अक्सर
लौटना प`गा फिर-फिर घर।

जगदंबा बाबू गाँव आ रहे हैं

चित्रा मुद्गल

परात में जगह-जगह सूख गये आटे को करछुल से खुरच-खुरचकर छु ाती हुई सुक्खन भौजी खीजती हुई ब ब ाये जा रही है कि भला इन आजकल की दुलहिनों को हो क्या गया है ! चूल्हा-चौका निबटाकर बासन समेटती हैं तो कोई पूछे इनसे कि बरतनों को भिगोकर क्यों नहीं रखतीं? रग ते-छु ाते उनकी गदेलियाँ छरछराने लगती हैं। तिस पर कभी भूले-भटके परात, बटलोई में अन्न का दाना चिपका रह गया तो समझ लो कटिया-जुद्ध ! बरैया-सी बर्राने लगेंगी, 'अई सुक्खन भौजी, बासन खंगाल के धरि गयी हो का? तनिक जांगर चलावा करो? सेंत-मेत में तो मंजतिंव नहीं. . . बीस ठो नकद, कलेवा ऊपर से अउ तीज-त्योहार का नेग, कौंछु सो अलग !. . . .कहौ तो दोना-पत्तरिन पर खवावे लागी?. . . .मझली दीनापुर वाली के व्यंग्य वाण कलेजे को छलनी कर देते हैं। जुबान न हुई खच्च, खच्च कटिया काटती हुई गंडासी हो गयी। देहरी की परजा हैं सो मुँह सिये गर्दन झुकाये हाथ चलाती रहती हैं, नहीं तो एक वह भी जमाना था कि बहुरियों की हँसी-ठिठोली में उख ी साँसें सधती नहीं थीं कि चटपट टहल पूरी ! कहते हैं सिपाहियों के घर की धिरिया है दीनापुर वाली ! सो इसी से तिलुवा दूसरों की मीन-मेख निकालने में ही जुटा रहता है। वही निहाद हैं ! 'पीतर की नथनी पे इत्ता गुमान, सोने की होती तो चलती उतान. . . .'

'हुँह ! . . . .'

मजे बासन झाबे में समेट सुक्खन भौजी नर्दवा पर से पलट ही रही थी कि देहरी से ठाकुर सुमेर सिंह की खंखार कानों में प ते ही जहाँ की तहाँ पीठ फेरकर ठिठक गयीं। काम-काज को डोलती दुलहिनें झपटकर खमसार की ओट हो लीं। उनकी खंखार पर्दाधारियों के लिए संकेत होती है कि वे सावधान हो जायें, मालिक घर में दाखिल हो रहे हैं। बलिष्ठ सुदीर्घ काया वाले ठाकुर सुमेर सिंह बैसवा ा के प्रतिष्ठित ठाकुरों में से हैं। पक्की चार गोंईवाले। लेकिन अब न वह ताल्लुकेदारी रही, न वह शान-शौकत ! फिर भी हाथी मरा तो सवा लाख वाला दबदबा जवार में कायम है। पिछले वर्ष तक वे लगातार गाँव के प्रधान चुने जाते रहे हैं। इस साल जनता पार्टी के पण्डित भुवनेश्वर वाजपेयी से मात खा गये। अब बीस बिसुआई ऐंठ और बैसवा ी ठकुराई में गले-गले तक ठनी हुई है, मजाल कि ठाकुर सुमेर सिंह की मूँछों की तुर्राहट कहीं से ढीली नजर आ जाये ! गाँव की प्रधानी हाथ से सरकी तो सरकी, युवा काँग्रेस के पिछ े वर्ग के प्रांतीय सचिव तो वे हैं ही। पीठ पीछे हाथ बाँधे हुये वे दाहिनी खमसार के विशाल दालान को पार करते हुये, कठौते में रखी मिर्चों में सींक से मसाला भरती हुई दिद्दा के निकट जा ख े हुए, 'अम्मा ! सुक्खन भौजी से कहना कि टहल निबटाकर जाते हुए वह हमसे बैठक में मिलकर जाए. . . .जरूरी बातें करनी हैं उससे. . . .'

'ललौना की बावत ब कऊ !. . . .सहर से डाकदर आ रहे हैं का?' दिद्दा ने प्रयोजन का अनुमान लगाना चाहा। प्रत्युत्तर में ठाकुर सुमेर सिंह ने, 'हाँ अम्मा' कहकर अनुमोदन में सिर हिलाया और लौटने को मु ने लगे कि अनायास दिद्दा को कुछ स्मरण हो आया, 'काली पूरनमासी है ब कऊ. . . .चंदिकन स्वामी जी के दर्शन के बरे जाय चहित हन हम. . . .गा ी नहवाय देहो त के?'

'चली जाइयेगा. . . .'

आगे न उन्होंने दिद्दा को किसी प्रश्न का अवसर दिया न स्वयं कोई जिज्ञासा व्यक्त की कि सुबह उनके संग और कौन-कौन जायेगा। जिस तेजी से वे घर के भीतर दाखिल हुये थे उसी तेजी से ख ाऊँ की 'ठक्-ठक्' पीछे छो ते हुए देहरी लाँघ बाहर हो लिये।

नर्दवा के इर्द-गिर्द जूठन और राख की गंदगी बुहारती हुई सुक्खन भौजी के अंतस् में क्षण भर पहले दीनापुर वाली की प्रता ना का मलाल एकाएक शीतल धार प ी लपट-सा शांत हो गया। दिद्दा और ठाकुर सुमेर सिंह के मध्य हुई बातचीत उनके चौकन्ने कानों में प चुकी थी। ठाकुर सुमेर सिंह

का हृदय ठीक ब` मालिक पर गया है ! कठोर धरती में छिपे जल-सा। ब` मालिक जब तक जिये, जन-मजूरों को अपनी परजा समान पाला।

उनका उसूल था कि उनकी जी-हजूरी बजाने वाला भूखा-नंगा न सोये। कैसे भूल सकती है वह कि ललौना के पैदा होने की खुशी में चाँदी की तो ी नेग दी थी उसे !....शेष तीनों भाइयों में मझले तर ऊपर के सुभग सिंह और सुखदेव सिंह प्रदेश की राजधानी में ही अधिक समय बिताते हैं। कहते हैं कि वहाँ वे कारतूसों का कारखाना चला रहे हैं। महानगरीय संस्कृति को अनुपयुक्त करार देकर सुभग सिंह ने शेरागढ़ वाली को छो कर दूसरा ब्याह रचा लिया है। शेरागढ़ वाली जब से गौने में विदा होकर आयी है, कंगन खुलने वाली रात भी उसे पति-सुख नसीब नहीं हुआ। शहर वाली के तीन बच्चे हैं। सुखदेव सिंह बराबर घर आते-जाते हैं। सबसे छोटे पेटपींछन नरेन्द्र सिंह सेना में हैं। न जाने कहाँ-कहाँ से उनके ब्याह के प्रस्ताव आ रहे हैं। लेकिन दिद्दा की ज़िद के बावजूद नरेना टाले जा रहा है। ठाकुर सुमेर सिंह दिद्दा को अक्सर समझाते रहते हैं। आजकल के ल कों पर जबरदस्ती उचित नहीं....सुभग के मामले में चेत जाओ। दिद्दा बिरथा से विचलित हो उठती हैं, 'नरेना के सिर पर मौर देखे की आस लिये लंबरदार चले गये। लागत है, हमरेउ भाग्य में छोटकी दुलहिन की मुँह दिखाई नहीं बदी....'अपनी बात की मर्यादा न रखे जाने का दुःख ठाकुर सुमेर सिंह को भी सालता होगा। मगर पुजते वट-वृक्ष सदृश जैसे परिंदों को रैन-बसेरा दिये, अपने तन-मन पर आँधी-पानी-घाम झेलते अडोल-से ख` हुए हैं....

टहल निपटाकर आँचल से हाथ पोंछती हुई नित्य की भाँति सुक्खन भौजी दिद्दा के खटोले के निकट भूमि पर आ बैठी और हल्की मुट्ठी से उनकी खाल छो रही टाँगें चाँपने लगीं।

'कइसे हय तोर ललौना सुक्खन की दुलहिन?' मिर्चों से भरा कठौता एक ओर सरका दिद्दा ने हाथ रोक दिये। सहानुभूति पा सुक्खन भौजी की पी ा पित्ती-सी उछल आयी, 'का कही....चलै-फिरै ठीक से पावत नहीं....बबूल की बकुलिन की बैसाखी बनाइस है....वही के टेका लई-लई के मदरसे जाइक बरे सौखियात हय....काल कहिसि....' सहसा नम हो आयी आँखों को आँचल से पोंछते हुए अपने को संयमित करने की कोशिश की सुक्खन भौजी ने, 'काँख पिराती है अम्मा... देखा तो पावा मोरी मालकिन !....काँख छिली के घाव हुए गयि हय....'

उसकी व्यथा से विचलित हो आयी दिद्दा ने कंधे पर हाथ रख ढाँढस बँधाया। 'च् च् च् सोवत बेरिया तनिक हल्दी तता के धर दीन्हों काखन पे....धीरज धरो ! लंग य सही, बेटवा तो हय मरत बिरिया मुँह म गंगाजल डारेक बरे....? फिर पल भर मौन साध अवरुद्ध कंठ से बोलीं, 'शेरागढ़ वाली कइसे धीरज धरै....सोचव सुक्खन की दुलहिन....!'

सुक्खन भौजी दहलीज़ पारकर दायीं ओर बनी ब ी-सी चौपालनुमा बैठक के सामने तनिक आ लेकर जा ख ी हुई। भीतर से आती बतकही और ठहाकों से अनुमान हुआ कि बैठक में काफी लोग जमे हुए हैं। व्यग्र हो आयी कि ठाकुर सुमेर सिंह को कैसे खबर हो कि वह मोहारे पर ख ी उनकी प्रतीक्षा कर रही है। घर के किसी को न गुहार ले ताकि जल्दी भेंट हो जाये। ऐसे तो ख`-ख` दिन चढ़ जाएगा और मुलाकात नहीं हो पाएगी। सोचकर मु ने को ही हुई कि तभी किसी ने भीतर से उसे देख लिया क्योंकि दुक्खी ने फौरन बाहर आकर उसे रुकने का संकेत किया, 'मालिक आ रहे हैं सुक्खन भौजी !'

निकट आती ख ाऊँ की पदचाप से सतर्क हो सुक्खन भौजी ने नाक तक आँचल खींच लिया। ध ध ाती भागी जा रही लढ़िहा के चक्कों-सी ध कनें तेज हो उठीं। हालाँकि दिद्दा से हुई इनकी संक्षिप्त बातचीत के समय वे भेंट का संदर्भ अपने कानों सुन चुकी थी फिर भी ठाकुर सुमेर सिंह से एकांत में बात करने का अवसर सुक्खन भौजी के लिए पहला ही था। साहस पसीज रहा है तो बहुत स्वाभाविक है।

'गाँव में भूतपूर्व स्वास्थ्य मंत्री जगदंबा बाबू आने वाले हैं। जनता के कष्टों की जानकारी लेने....उनको सुनने....'बिना किसी पूर्व भूमिका के ठाकुर सुमेर सिंह ने अपनी बात शुरू कर दी। उन्होंने 'विकलांग उद्धार समिति' गठित की है। 'विकलांग उद्धार समिति' विकलांगों को स्वावलंबी बनाने का प्रयास कर रही है। लूले-लँग` समाज में बराबरी का जीवन जी सकें, यह उनका लक्ष्य है। मैंने

आसपास के गाँवों से अपाहिजों का विवरण भिजवाया है। जिला अस्पताल के विकलांग विशेषज्ञ उन्हें देख रहे हैं। डॉक्टरी परीक्षण के आधार पर जिसकी जैसी आवश्यकता होगी, सहायता की जायेगी। अपनी बात अधिक स्पष्ट करने की मंशा से उन्होंने वाक्यों को तनिक सरल बनाकर समझाया, 'अगर किसी के पाँव लग सकते हैं. . . .नकली पाँव लगवाये जायेंगे. . . .किसी के पाँव नहीं लग सकते, उसे पहियों वाली गा ी प्रदान की जायेगी, जिसे वह अपने हाथों से चला सकेगा. . . .अपने गाँव से मैंने तुम्हारे बेटे का नाम भेजा है। कल डॉक्टर आ रहे हैं। सुबह दस बजे के आसपास ललौना को बैठक में ले आना। कुछ दिन बाद दंगल वाले मैदान में एक समारोह होगा, उसी समारोह में जगदंबा बाबू अपाहिजों को ये उपहार वितरित करेंगे. . . .'

अविश्वास से भरा सुक्खन भौजी का भावाकुल हृदय कृतज्ञता से अवनत हो ठाकुर सुमेर सिंह के चरणों में झुक गया। भूमि पर से उसका माथा उठा भी नहीं कि वे आगे कुछ कहे बिना मु कर बैठक की ओर बढ़ दिये। विह्वल सुक्खन भौजी को यह प्रतीत हुआ कि क्षण भर पूर्व उससे कुछ डग दूर ठाकुर सुमेर सिंह नहीं बल्कि कोई चमत्कारी सिद्ध महात्मा ख े हुए थे।

उठी तो महसूस हुआ कि उसकी टहल से थकी-टूटी देह एकाएक फुनगी पर हिलोर लेता फूल हो आयी है। पंदरह बरस होने को आये, ललौना को सहज चलता-डोलता देख पाने की लालसा करेजे की हूक-सी हुहुआती न खुशी से मुँह में कौर देने देती है न खुलकर हँसने-बोलने !

कौन से जतन नहीं किये। वैद्य, हकीम, झ वइये-फुँवइये, टोने-टुटके सब अजमा लिये पर ललौना की निर्जीव टाँगों पर किसी ज ी-बूटी, मानता, मनौती का परताप नहीं चढ़ा।

टोले में कदम रखते ही पाटी-बस्ता लटकाये हुये बच्चों की टोली देख उसकी निष्प्रभ आँखों में हसरत भरी चमक कौंध गयी। ललौना भी हठ करके मदरसे गया है। बकरिहाइन काकी के नाती भग्गू के संग। बकुलियों के सहारे कढ़िलते-कढ़िलते। भग्गू ने उसके आशंकित मन को आश्वस्त किया था, 'डरो न ननिया. . . .साथ हन न हम।' ललौना की पाटी, बुदिक्का वही उठाकर ले गया है। पहले वह ले जाकर छो आया करती थी पर रोज-रोज कब तक दौ लगाती। पल भर की अबेर हुई नहीं कि दुलहिनों की ज़ुबान तेल पिये को े-सी अंगनई में दाखिल होते ही स स ाने लगतीं।

कैसे अच्छे लग रहे हैं बच्चे ! उनकी काँख में ब ी-सी पाटी दबी है। दूसरे हाथ में छुहिया भीगा बुदिक्का ! धींगामुश्ती करते चहकते-बतियाते ऐसे बढ़े आ रहे हैं जैसे हिरन-शावकों का चौक ी भरता झुंड। सहसा उसे लगता है कि गलियारे के दाहिनी ओर चली आ रही टोली में जो सबसे ऊँचा, तन्दुरुस्त, भरी-भरी जाँघों वाला बस्ता लटकाये ल का झूमता चला आ रहा है, उसका ललौना ही तो है ! गलियारे की धुन की कपास जैसी भुस-भुसी धूल में उसके नंगे पाँव धूसरित हो रहे हैं. . . .बस, जाँघों पर झूलती पटरे की जाँघिया उसके सुन्दर तन पर पैबंद-सी अखर रही है। अब जाँघिया पहन कर मदरसे नहीं जाने देगी। उसकी बराबरी के ल के पायजामा पहनने लगे हैं। पाई-पाई बचा के कुछ रुपये कुजिया में दबा के चौके में गा रखे हैं। सोच कर कि आ े वक्त काम आएँगे मगर यों बच्चे की शोभा बिगा कर पैसों का क्या सुख !. . . .शौक मर गया तो फिर वही निहाद-उपासे के आगे मोदक !

निकट आती टोली के बावजूद उसका अधीर हृदय हु क रहा है कि खूँटा तु ाई गइया-सी दौ वह अपने ललौना को अंक में कौरिया ले, उसे बता दे, वह शीघ्र ही उसके लिए लट्ठे का पायजामा और मारकीन की कमीज सिलवा देगी। पाँवों में चट्टी भी पहनवा देगी। धनुही खे ा की हाट इसी बिफ्फै (बृहस्पति) की ही तो है. . . .

'चचिया पाँय लागी।'

'चचिया, चचिया, ललौना की कक्षा के ब े पण्डित जी दंड दिहिनन हयं. . .पूरी कक्षा घामे म ख ी हय. . .घंटा भर से पहले न छोी हैंय. . . .कोऊ सरौना पानी पियक मटका तो दिहिस रहय. . . .'

ललौना के मुख से अपने लिए चचिया संबोधन सुनकर वह जैसे गहरी नींद से चौंकी। यह तो ललौना नहीं अपनी सुभागी दिदिया का बचई है ! क्या वह दिवास्वप्न देख रही थी !

दंड की बात सुनकर क्षण भर पहले का कुलाँचें भरता हुआ मन खिन्न हो आया। बासी पनेथी बुकनू चुप के खा के गया है। भूख के मारे आँतें कुलबुला रही होंगी। तिस पर आग लगी छिली काँख की पीर। कब से सोच रही है कि दोनों बकुलियों के गुलेल से मुख पर उतरी हुई धोती की

गुंडरी-सी बनाके अटका देगी ताकि काँखें काठ की कोंच और छीलन से तनिक बची रहें। मगर ठाकुर सुमेर सिंह के घर से प्राप्त उतरन की हर धोती उसकी अपनी ही आबरू को आ देने में होम हो जाती है। छिली काँखों को मरहम लगे तो कौन जतन लगे !

आँचल में बँधी कुंजी से घर का ताला खोल, भीतर प्रवेश करते ही सुक्खन भौजी का अंतरमन फिर से आशा-निराशा के गर्त में गोते लगाने लगा है। उसे बुलाकर ठाकुर सुमेर सिंह ने जो आस की लौ की तीली दिखाई है सचमुच पूरी होगी? हो सकता है, कोई चमत्कार घट ही जाये ! आजकल माने हुए हकीम, वैद्य, सिद्ध-तांत्रिक जो नहीं कर पाते, वह शहर के आला लगाये डॉक्टर कर दिखाते हैं। बातें सुनने में आती ही रहती हैं। पिछले साल की ही तो बात है। परधान पंडित भुवनेश्वर बाबू की जीप दौ ाने वाला कालीचरना अपनी सुना रहा था कि यह जो हमारी बायीं टाँग भली-चंगी देख रही हो न सुक्खन भौजी, असली नहीं है, बस ऊपर से माँस-मज्जा असली है। एक ओर ठेला से टकरा टूटकर झूल गयी। हमने उम्मीद छो दी कि अब परवश हो गये। रोजी-रोटी के काबिल नहीं रहे। लेकिन भौजी, मान गये लोकनायक हस्पताल वालों को। टाँग में हड्डी की जगह स्टील की सरिया इतनी सफाई से बैठायी है कि दूसरों पर आश्रित होने की गलाजत से बच गये। कालीचरण गपो ी नहीं है। टाँग उघा कर उसने उसे एक लम्बी-सी चीर दिखायी थी और चीर देखते ही उसके मुँह से करुणा की सिसकारी फूट प ी थी। कालीचरणा ठीक हो सकता है तो उसका ललौना ठीक नहीं हो सकता?

कौतूहल से भरे ललौना को मेज पर चित्त लेट जाने का आदेश देते हुए गले में आला लटकाये डॉक्टर बाबू उसकी मैल अटी देह पर झुक आये। वे कभी उसकी सूखी टाँगों को तनिक ऊँचा उठाते, कभी टखनों से मो ने की कोशिश करते, कभी सूखी सेम की फलियों-सी ऐंठी उँगलियों, अँगूठों को चुटकी से खींचते, दबाते, बीच-बीच में वे ललौना के मुख पर प्रतिक्रिया भाँपने की कोशिश करते, पूछते भी चल रहे थे कि उँगलियाँ खींचने, दबाने, टाँगों को मो ने, उठाने या उठाकर अचानक छो देने से क्या उसे किसी प्रकार का स्पर्श महसूस हो रहा है?

'पैदाइश से ही इसकी टाँगें बेजान हैं?'

सारी कार्यवाई से विस्मित सुक्खन भौजी प्रश्न सुन संकोच से ग गयीं। वे पर्दाधारी मेहरिया, पराये मनई से उनकी बतकही कभी हुई नहीं। होती भी है तो संबंधों में लहुरे लगने वालों के संग भर। और यहाँ तख्त पर ठाकुर सुमेर सिंह समेत मंजकुरिया टोला के लंबरदार पुतन सिंह, पंडित मातादीन तिवारी, रजऊ काका, जेठ, ससुर लगते सभी आसीन हैं। मुँह खोलने का दुस्साहस कहाँ से जुटाए।

गाहे बगाहे-गलियारे दुआरे सामने प भी गयी होंगी तो उनके निकलने तक मुँह मूँदे पीठ किये हुए ही ख ी रही होंगी।

डॉक्टर ने फौरन सुक्खन भौजी का संकोच ता लिया। मुलायम स्वर में साहस बँधाते हुए बोले, 'संकोच करोगी तो किसी नतीज़े पर पहुँच पाना मुश्किल होगा....इलाज़ में भी देर लगेगी... दूसरा कोई ठीक-ठीक बता भी नहीं सकेगा....'

तभी रजऊ काका का ध्यान उसकी ओर गया। चल रही चर्चा से उचट वहीं से बैठे-बैठे उन्होंने ऊँचे स्वर में सुक्खन भौजी को डपटा, 'काहे दिक्क कर रही हो डॉक्टर बाबू को....जो पूछ रहे हैं बताती चलो।'

डॉक्टर साहब ने अपनी जिज्ञासा दोहराई, 'ल के की टाँगें पैदाइश से ही बेजान हैं?

अबकी साहस कर सुक्खन भौजी ने इनकार में सिर हिला दिया।

आशय समझ डॉक्टर साहब ने दूसरा सवाल किया, ' कैसे कह सकती हो कि पहले इसकी टाँगों में जान थी?'

'पैयाँ-पैयाँ अँगनई में डोलत रहय।' कहते हुए सुक्खन भौजी का कंठ भर आया। भावनाओं पर काबू नहीं रख पायी। बरसों पूर्व दिठौना लगे ललौना की मोहनी बाल छवि आँखों में तैर गयी....

'तो....कब महसूस हुआ कि बच्चे की टाँगें काम नहीं कर रहीं?'

अकुलाये हृदय को सहेजने की चेष्टा करती हुई वह अवरुद्ध कंठ से बताने लगी कि पैंया-पैंया चलते हुये एक रोज ललौना अचानक पेट के बल हो गया और उसी मुद्रा में प रहा। क वे तेल से लेकर न जाने किस-किस तेल से उसकी टाँगों की मालिश की, मगर लुंज हुई टाँगों में पिरान नहीं लौटे तो नहीं लौटे।

'पोलियो का मामला है।' निकट आ ख` हुए ठाकुर सुमेर सिंह से उन्मुख होते हुए विचारमग्न डॉक्टर साहब ने जाँच का निचो स्पष्ट किया।

'मामला हाथ से निकल चुका है। समय पर इलाज़ के अभाव ने गुंजाइश नहीं छो ी. . . टाँगें कट गयी होतीं, टूट गयी होतीं तो भी इलाज़ संभव था। नकली टाँगें लगवायी जा सकती थीं. . . एक ही उपाय शेष है। बैसाखियाँ या फिर पहिये वाली गा ी. . . मैं जगदंबा बाबू से सिफारिश करूँगा. . . '

'सुबह जिला कार्यालिय में मेरी बात भी जगदंबा बाबू से होगी, परसों पार्टी के महासचिव दिल्ली से आ रहे हैं। पार्टी संगठन को लेकर विशद चर्चा होगी। बात करूँगा. . . कितने गाँव निबट गये हैं?'

'आपके निकट धनुही खे ा से लेकर बारा तक. . . अधिक मामले नहीं हैं विकलांगों के. . . बच्चों की संख्या ज्यादा है। देहात की यही विडम्बना है। अधिकांश बच्चे पोलियोग्रस्त होकर अपंगता भोगने को बाध्य हैं।'

प्रतिक्रिया में ठाकुर सुमेर सिंह गंभीर हो आये, 'ठीक कह रहे हैं. . . अशिक्षा ने इन्हें अंधविश्वासों में जक रखा है। सहायता उपलब्ध होते हुए भी ये टीका लगवाने में विश्वास नहीं करते। चाय-नाश्ते के बाद यहाँ से सीधे भरतीपुर निकल लें?'

'चाय-नाश्ता वासुदेव बाबू के यहाँ सही। अच्छा हो, शाम तक इस ब्लाक के शेष तीनों गाँव निपट जायें।'

ठाकुर सुमेर सिंह के बैठक से निकलते ही डॉक्टर बकुलियों के सहारे झूलती-सी ललौना की कृशकाय देह पर करुण दृष्टि डालते हुए सुक्खन भौजी की ओर मु`, 'चिंता छो दीजिये।
शीघ्र ही आपका बेटा अपने हमजोलियों की तरह घूमता-फिरता नज़र आयेगा. . . अब टाँगें नहीं लौट सकतीं। पर निराश होने की ज़रूरत नहीं। मैं जगदंबा बाबू से सिफारिश करूँगा, इसे हाथ से चलने वाली पहियों वाली गा ी दी जाये. . . ।' आगे बढ़कर उन्होंने सहमे ख` ललौना के कंधे हौसला बढ़ाने वाले अंदाज़ में थपथपाये, 'ये दोनों हाथ. . . दोनों टाँगों का भी काम करेंगे. . . बस, अपनी सेहत का ध्यान रखो बरखुरदार।'

डॉक्टर बाबू का आश्वासन पाकर सुक्खन भौजी का हृदय उम्मीद से विह्वल हो आया। अनदेखे जगदंबा बाबू की छवि एकाएक उनके निष्कलुष सरल हिया में किसी देवता की मूरत-सी साकार हो आँखों के आगे झिलमिलाने लगी। आँखें भादों हो आयीं और कृत-कृत्य सी ढुलकते हुए अश्रुओं से देवता की मूरत अभिषेक करने लगीं। सेहत का उलाहना डॉक्टर बाबू ने झूठ नहीं दिया। बकरिया पाली किसकी खातिर है। पर कभी-कभी नीयत डोल जाती है। चार पैसों का मोह गठिया बेचने का खोवा अऊट लेती हैं। आंखिन किरिया जो अब वह दूध औटने कढ़इयाँ में भूले से भी चढ़ाये..

घर के रास्ते बढ़ीं तो पाया कि सलोने भाई की नौटंकी के आगमन की रोमांचित खुशी की तरह उनके ललौना की टाँगों की इलाज की खबर आनन-फानन गाँव डोल आई है और सभी को उद्वेलित किये हुए है। लोगों की इस टिप्पणी पर कि, 'चौदह वर्ष में तो घूरे के दिन भी फिरते हैं, चलो दुखियारी महतारी की भी भोले बाबा ने सुध ली' - वह आँखें पोंछने लगती और प्रत्युतर में ठाकुर सुमेर सिंह की महानता के बखान के संग जगदंबा बाबू का जस गाते कृतज्ञता से दोहरी होने लगती। लोगों ने उसकी हाँ में हाँ मिलायी. . . कलियुग में गाँधी बाबा ने दुखियारों की सुध ली थी, सुराज दिलाया। उनके बाद विनोबा बाबा लँगोटी धरे गाँव-गाँव बेसहारों के लिए दौ ते रहे। जगदंबा बाबू वैसे ही महात्मा अवतारी पुरुष लगते हैं। वरना कौन गरीब-गुरबा के कष्टों पर पुलटिस बाँधता है?
'सब ठाकुर सुमेर सिंह की महिमा का परताप है। एक परधान पंडित भुवनेश्वर बाबू हैं जो. . . परधानी घोंट-घोंट छानि रहय है मस्ती. . . गरीब-गुरबा का ध्यान तबै तक रहय जबै तलक परधानी के वोटन की दरकार रहय, अब तो भैया. . . गाँव में जौन कुछ हुई रहा है ठाकुर सुमेर सिंह की बदौलत. . . '

प्रदेश काँग्रेस की महिला कार्यकर्ता कुर्सी पर बैठने के लिए हिचकिचाती सुक्खन भौजी को ब ़े अनुनय के बाद राजी कर पायी। कुर्सी, वह भी एकदम अगली पाँत में। गेंदे की लड़ियों से आच्छादित मचान से बने मंच से यही कोई पंद्रह-बीस हाथ। गनीमत थी कि पोलका पर बिल्ला टाँके अगल-बगल अन्य स्त्रियाँ सिर उघा ़े बैठी हुई थीं। नखलऊ (लखनऊ) से आयी थीं। उन्हें देख सुक्खन भौजी बैठने का साहस संजो पायी। वरना उसे याद नहीं प ़ता खटोला, मचिया या टाट छो ़ वे कभी किसी ऊँचे आसन पर बैठी हो। वह भी अपनी बिरादरी में, बामन-ठकुरन के घर कच्ची-पक्की भूमि की उदारता ही सिंहासन समझो।

अव्यक्त आनंद से हुलसित उनकी दृष्टि घूँघट की ओर फलाँगती मंच के दाहिनी ओर विशेष रूप से लगायी गयी कुर्सियों पर बैठे हुए अपंगों की ओर उठ गयी। जगदंबा बाबू स्मरण हो आये। कह रहे हैं, जगदंबा बाबू जनता के सेवक हैं। दीन-दुखियारों के रक्षक। प्रजा के कष्टों को पहचानने वाले गुप्ता जी के मंत्रिमंडल में वे राज्य के स्वास्थ्य मंत्री थे। पिछले चुनाव में ग्रहों ने कुछ ऐसी खुराफात दिखायी कि अपने बरसों पुराने इसी गढ़ से जनता पार्टी के गयादीन जैसे लंपट उम्मीदवार से मात्र सात सौ वोटों से पटखनी खा गये। उनके जैसा पुन्न-परतापी ऐसे चिरकुट से मात खाने वाला थो ़े ही था। वो तो लाठी-बल्लम के बूते वोटों के बक्से बदल दिये गये। सोने पे सुहागा यों हुआ कि कलेक्टर से लेकर एस.पी. दोनों ससुरे उसकी बिरादरी के निकले। वरना कोई चरित्र है गयादीन का। शिवलाल की बिटिया सुखनी के साथ भुसौर में केलि-क्री ़ा करते हुए रँगे हाथों धर लिये गये थे। कटिया काटने का गंडासा ताने सुखिया के लाल भभूका भाई ने ब ़ी नहर तक तरिया लिया था उन्हें। बाद में भरतीपुर के ठाकुर शिवबली सिंह के घर फर्जी सेंध के मामले में फँसाकर उन्होंने उसे जेल भिजवाकर ही दम लिया। ऐसा अधर्मी जगदंबा बाबू के मुकाबले में विजयी हुआ तो जबरई के चलते ही न। कह रहे हैं कि तियाँ-पाँच से विधानसभा में गयादीन पहुँच तो गये मगर तीन बरस में तीन से अधिक मुँहदिखाई नहीं की अपने इलाके की। इष्ट मित्र, सगे-संबंधियों को ठेका दिलवाने, भट्टा खुलवाने, परमिट जारी करवाने और कुछेक स ़कों पर मामूली बजरी बिछवाने तक ही उनकी जनसेवा का प्रण रेव ़ियाँ बाँटता रहा। धनुही खे ़ा में ब ़ा अस्पताल खुलवाने का दम भरा था कि औरतों की जचकी के लिए विशेष रूप से इस अस्पताल में तीसेक खटिया डलवाएँगे ताकि जच्चा-बच्चा की हिफाजत की सुविधा हो, सो आज तक नींव नहीं खुदी। उनकी पार्टी की सरकार नहीं है तो क्या उनकी बात का वजन फूक हो गया। कह रहे है, असहाय सुदामाओं की सुध लेने को जगदंबा बाबू गाँव आ रहे हैं कोई सरकार के खर्चे पर थो ़े ही सदाव्रत खोलने निकले हैं। वो तो अपनी टेंट से लूले, लँग ़ों को सिलाई की मशीनें, बैसाखियाँ और पहियेवाली ग ़ियाँ बाँटेंगे। गरीबों की सेवा का व्रत है उनका....!

कैसा भव्य मेला जु ़ा है ! ठीक महावीरन के मेले जैसा व कोस भर लम्बा दंगल का मैदान फुलवारी-सा झंडियों और झंडों-सा सजा है। भोंपू से गाँधी बाबा की रामधुन - 'रघुपति राघव राजा राम गूँज रही है। सुरगवासी होने से पहले दिया गया इंदिरा मैया का भाषण भी बीच-बीच में बज रहा है। कोसों दूर-दूर से जनता पैदल, ल ़हा, जीप, ठेला में उम ़ी चली आ रही है। कह रहे हैं, न जाने कहाँ-कहाँ से छापाखाना वाले खबर लेने और फोटू खींचने आ रहे हैं, सबकी फोटू और खबर छापा में छपेगी।

सुक्खन भौजी का मन ललक रहा है कि पोलके पर फीते का बिल्ला टाँके इंतजाम में व्यस्त किसी बहनजी से विनती करे कि उसे निकट से पहियों वाली गा ़ी दिखा दे। तनिक छू कर देखे, ललौना उस पर किस विधि बैठेगा। चलेगा-फिरेगा, कि उसकी छरछराती काँखों पर अब उसे हल्दी तपा कर नहीं लेपनी प ़ेगी। उसकी घायल काँखें इतनी हल्दी सोख लेती हैं कि अक्सर दाल में चुटकी भर छि ़कने की गुंजाइश भी नहीं बचती।

दृष्टि घूम-फिरकर मंच की बगल में बैठे अपने ललौना पर आ टिक गयी। मारकीन की नयी कमीज और खाकी नेकर पहने सूखी टाँगों पर बकुलिया टिकाये ललौना एकदम किसी-किस्सेवाला राजकुमार प्रतीत हो रहा है। बकरिहाइन काकी से मुट्ठी भर सरसों माँग कर लाई थी। खूब महीन उबटन पीसा था। देह रग ़-रग कर मैल की बत्तियाँ झा ़ी थीं। नहलाकर नयी नेकर कमीज पहनाई तो बेटे की छवि पर न्यौछावर होता चित्त सहसा उसके बप्पा का स्मरण कर भावुक हो आया। ललौना को अपने पाँव पर चलता देखने की हौंस कलेजे में दबाये हुये ही वह अचानक नाता तो कर चल दिये थे।

सिर पर चढ़ता घाम धीरे-धीरे चटक होने लगा है। कह रहे हैं कि ग्यारह बजे तक जगदंबा बाबू दंगल वाले मैदान पहुँच जाएँगे। कार्यक्रम खतम होने के बाद वो गाँव के परधान पंडित भुवनेश्वर से भेंट करेंगे, अकेले में लोगों के कष्ट सुनेंगे। कष्टों को वे सीधे सरकार तक पहुँचायेंगे, ए ी-चोटी का जोर लगा देंगे कि जल्दी से जल्दी उन पर कार्यवाही हो। तत्पश्चात् मदरसे में दल-बदल सहित उनका भोजन होगा।

पक्के ताल वाली स क पर अचानक धूल के बादल फन फैलाने लगे। कार्यकर्त्ता सतर्क हो उठे। मंच पर चढ़कर उत्साहित स्वर में ठाकुर सुमेर सिंह ने घोषणा की कि अब धैर्य की परीक्षा खत्म हुई। कुछ पलों में सुप्रसिद्ध समाजसेवक 'विकलांग उद्धार समिति' के जन्मदाता बाबू जगदंबा प्रसाद सभा-स्थल पर पधारने वाले हैं। कृपया अपने-अपने स्थान पर बैठे हुये ही शांतिपूर्ण उत्साह के साथ उनका स्वागत करें।

सभी स्थल के इर्द-गिर्द कुछ लठैत किस्म के पहरेदारों की भी व्यवस्था थी ताकि विरोधी पार्टी के लोग, विशेष रूप से परधान पंडित भुवनेश्वर बाबू के चमचे कार्यवाई में अव्यवस्था न पैदा कर सकें।

जगदंबा बाबू की जीप रुकते ही विशाल जनसमूह ने हर्ष-ध्वनि से उनकी अगवानी की। ठाकुर सुमेर सिंह लपककर उन्हें मंच पर ले जाने लगे। उनके साथ ब्लाक के बी.डी.ओ. से लेकर तमाम सरकारी, अर्द्धसरकारी अधिकारियों का काफ़िला आया हुआ था। मंत्री पद पर न रहने के बावजूद जगदंबा बाबू का दबदबा सत्तारूढ़ पार्टी के संगठनकर्त्ता के रूप में कम नहीं था। ऊपर तक उनकी पहुँच सर्वविदित थी।

उत्सव-सी यह सरगर्मी सुक्खन भौजी को रोमांचित कर गयी। एक तो पहली बार ऊँच-नीच का भेदभाव छो राव-उमरावों के बीच बैठने का सम्मान प्राप्त हुआ था, वह भी अपने अपाहिज बालक के चलते जो ब े से ब े कमाऊ सपूतों वाली महतारी के भाग में भी दुर्लभ होता है, दूसरे उसका आश्रित पूत आज से अपने पाँव पर ख ा हो सकेगा ! यह सुखानुभूति उसके रोम-रोम में किलकती फिर रही है। आँखें कभी मंच पर अनेक मालाएँ धारण किए हुए जगदंबा बाबू के ओजस्वी मुखमंडल पर लौट जातीं तो कभी अचंभित ललौना के मुख पर।

'भाइयों !....अब जगदंबा बाबू शारीरिक अक्षमतानुसार विकलांगों को स्वावलंबित बनाने हेतु उपहार भंट करेंगे....' ठाकुर सुमेर सिंह की उद्घोषणा का उपस्थित जनसमूह ने करतल-ध्वनि से स्वागत किया।

मंच से उतरकर जगदंबा बाबू उस स्थान की ओर बढ़े जहाँ वितरित होने वाले उपहार सजाये हुये थे। विकलांगों के मलिन चेहरों पर सघनाती संध्या-बेला गंगा में सिराये जाने वाली सैक ों दीपमालाओं की हिचकोले खाती उजास हिलोरें लेने लगी व एक के बाद एक नाम पुकारे जाने लगे...

सगवर के सकंठा प्रसाद दायें हाथ से लूले !...जगदंबा बाबू ने उसे पैरों वाली सिलाई की मशीन भेंट की। सकंठा प्रसाद जुम्मन मियाँ की सिलाई की दुकान में मज़ूरी करता है। अब अपना अलग काम शुरू कर सकेगा। इतना नाता जुम्मान मियाँ निबाहेंगे ही कि उसके लिए पोशाकें काट दिया करेंगे....सिलाई मशीन के एक ओर जगदंबा बाबू ख े हैं तो दूसरी ओर सकंठा....सुक्खन भौजी का हृदय अधीर हो आया कि बारी-बारी से सभी के नाम पुकारे जा रहे हैं। उनके ललौना को अब तक क्यों नहीं बुलाया गया। कहीं ऐसा तो नहीं कि सब कुछ बँट जाये और उनके ललौना के हाथ कुछ भी न लगे? नामों की घोषणा बदस्तूर जारी है। वह सुन रही है। अब फिर किसी का नाम बार-बार दोहराया जा रहा है - 'मोरी दय्या, ई तो मोरे ललौना का नाम हय।' अकस्मात् बोध हुआ तो षोडषियों की तरह लज्जित हो अपने ओंठ काट लेती है। प्रतिपल 'ललौन, ललौना' संबोधन की आदी उसकी बेसुध-मनसचेतना को भान ही नहीं हुआ कि बिसनूकुमार बारी अन्य कोई नहीं, उसका छौना ललौना ही तो है।

इत्ता बल कहाँ से आ गया मुँहझौसे में। बकुलियों का टेका लिए धमर-धमर चलता हुआ ललौना जगदंबा बाबू की ओर बढ़ रहा है जहाँ वे साइकिलनुमा एक हैंडिलवाली गा ी के निकट ख े हुये हैं। फुर्ती से बिल्लेवाला कार्यकर्त्ता आगे बढ़ ललौना को जगदंबा बाबू से मिलवाता है। ललौना ने दोनों हाथ जो कर जगदंबा बाबू को नमस्ते की। 'च्' 'च्'....नासिकाटेक पैलगी करके चाही कि

बाबुन की भाँति हाथ जो रहा हय? सुक्खन भौजी का दिमाग भन्ना उठा। किंतु अगले ही पल अपनी भूल का एहसास हुआ। बकुलियों के सहारे टिके ख ` ललौना के लिए एकाएक झुकना कष्टकर ही नहीं, मुश्किल भी है।

प्रसन्न जगदंबा बाबू हाथ में कैंची लिए पता नहीं ललौना को धीमे-धीमे गा ी दिखाते हुए क्या समझा-बतिया रहे हैं? तभी ठाकुर सुमेर सिंह आगे बढ़ उन्हें पहियों वाली गा ी पर बँधे गुलाबी फीते की ओर संकेत कर काटने का आग्रह करते हैं। फीता काटते ही तालियों की तुमुल ग ग ाहट पलों वातावरण में उत्तेजना फैलाये रखती हैं। एक कार्यकर्ता ललौना को स्वयमेव गा ी में बैठने और उसे हैंडिल द्वारा संचालित करने की विधि समझा रहा है। ललौना की अचंभित आँखों में आत्मविश्वास भरी चमक अंकुआ रही है। उसने अपने गाँव में अनगिनत साइकिलें दौ ती देखी हैं, पैडल मारते पाँव को ब ी हसरत से देखता रहा है वह। उसे महसूस होता है उसके हाथ सहसा पाँव में परिवर्तित हो उठे हैं, और गा ी का हैंडिल पैडल में और पैडल पर उसके पाँव तेजी से घूमने लगते हैं। ललौना की गा ी ऊब -खाब मैदान में झकझोले खाती तीव्रता से आगे बढ़ी जा रही है। प्रतिक्रिया में रोमांचित जन-समुदाय निरन्तर हर्ष-ध्वनि से आकाश गुँजाये दे रहा है....

लम्बा गोल चक्कर मारकर उसी स्थान पर लौटते ही जगदंबा बाबू ललौना की पीठ थपथपाकर उसे हार्दिक बधाई देने लगे। छायाकारों की भी ने दोनों को चारों ओर से घेर लिया। सीधे-सरल ग्रामवासियों के लिए यह अद्भुत दृश्य है। एक उदार महिला कार्यकर्ता को अचानक सुक्खन भौजी का स्मरण हो आया। वे जबरन उसे उठाकर भी को चीरती हुई ले जाकर ललौना के निकट ख ा कर जगदंबा बाबू और छायाकारों से उसका परिचय करवाती हैं कि यही बिसनू बारी की माँ है। छायाकार ललौना और गा ी के संग सुक्खन भौजी की तस्वीर खींचना चाहते हैं। आग्रह करते हैं कि वह जरा-सा मुँह खोल ले। लेकिन उनके लगातार आग्रह के बावज़ूद सुक्खन भौजी का आँचल उँगली भर पीछे नहीं सरका। अच्छा ही किया वरना अपनी मूसलाधार बरसती आँखों को लोगों की नजर से कैसे छिपातीं। लोग धिक्कारने लगते कैसी अपशकुनी मेहरिया है ! शुभ कारज पर टिसुए ढुलकाये जा रही है।.....

बचा-खुचा खाना बिरिया के भय से सिकहरे में टाँगते हुए सुक्खन भौजी को चिंता हो आयी कि ललौना को पहले दूध दे दे। कुंभकरना खटिया पर प ते ही नाक बजाने लगता है। बासन बाद में निपटा लेगी। महतारी-बेटवा, दुई प्राणी के होते ही कितने हैं? परंतु कल के लिए टालना ठीक नहीं होगा। कल एकादशी है। घर लीपने के लिए गली-गलियारे से गोबर इकट्ठा किया रखा है। मुँह अँधेरे उठकर लीपना शुरू करेगी तब कहीं जाकर सूरज उगे तक निपटा पायेगी। टहल के लिए निकलने में अबेर हो गयी तो दुलहिनें लत्ता लेने से चूकेंगी?

अँगनई के दाहिने कोने में जहाँ पुदीना बोया हुआ है और माटी की ऊँची बेडौल भीति पर तुरई की बेल चढ़ा रखी है वहीं ललौना की गा ी रखी हुई है। गा ी सुक्खन भौजी दुआर पर नहीं छो ती। भीतर लाने के उपक्रम में देहरी तु वाकर समतल करवानी प ी ताकि गा ी भीतर आ सके। उन्होंने करवायी। ललौना कम दुष्ट है। फर्राटे से गा ी अँगनई में ले आता है और चक्करघन्नी देते हुए उन्हें खूब दिक्क करता है। बिरझाई सुक्खन भौजी उसे गरियाती परेशान हो जाती है। 'कूकुर नाहिकै....पुदीने की क्यारी रौंदि डारेव? अबकी जौ तुम मोटाई छँटिहौ नासिकटौनू तो खाल उधे के धर देब....' वह अम्मा की बिरझाहट का मजा लेते हुये तभी थमता है, जब उसे अनुमान हो जाता है कि अब वे गाली से नहीं चैले से काम लेंगी।

दुधह ी से गिलास में दूध डाल और उस पर मोटी साढ़ी का टुक ा रखकर गुनगुना आये गिलास को आँचल से दबाये हुए सुक्खन भौजी ललौना के खटोले की ओर बढ़ ही रही थी कि तभी साँकल ख कने की ध्वनि सुन चौकन्नी हो थम गयी। ध्वनि-भ्रम तो नहीं हुआ उसे? नहीं....ध्वनि-भ्रम नहीं है। सचमुच साँकल ख की है। दुआरे पर कोई है ! गिलास खटोले के पाये के पास रखकर वह आले से ढिबरी उठा किवा ों की ओर बढ़ी। शर्तिया बकरिहाइन काकी होंगी। बहुरिया पूरे दिनों से है। हो सकता है सौरि में जाने की नौबत आ गयी हो और वे उसे सहायता के लिए बुलाने आयी हो?

'ककिया तुम हो का....'सुक्खन भौजी ने निध क होकर भीतर से दरियाफ्त की।

'हम हैं ठाकुर सुमेर सिंह.... 'प्रत्युत्तर में गर्जन भरी आवाज़ कानों से टकरायी। सुक्खन भौजी को पहचानते देर नहीं लगी। प्राण सूख गये। मालिक और इतनी अँधरिया में? कहीं कुछ अघटित तो नहीं घटित हो गया। कहीं... दिद्दा? लेकिन फिर भी, उसे बुलाने के लिए भला उनको आने की क्या आवश्यकता थी। दुक्खी, भरोसे, दुलारे किसी को भी सरपट दौ ा दिया होता। हाथ की ढिबरी ऊँची उठा पंजों के बल उचककर वे साँकल खोल, दरवाज़े की आ में घूँघट काढ़ ख ी हो गयीं। समझ में नहीं आया, देहरी पर पहली बेर आये ठाकुर सुमेर सिंह का स्वागत-सत्कार किस विधि करे, बैठाये तो कहाँ? जिज्ञासा करे तो कैसे। तभी मालिक ने उसे संकट से उबार लिया।

'जरूरी बात करनी है....'

सुक्खन भौजी की देह का रक्त-प्रवाह तीव्र हो उठा।

'दरअसल कल वीघापुर में 'विकलांग उद्धार समिति' का दूसरा समारोह है। जगदंबा बाबू को पहले की ही तरह अपाहिजों को उपहार वितरित करने हैं। केन्द्र से संभवतः ऊर्जा मंत्री कार्यक्रम को सुशोभित करने आ रहे हैं.... लेकिन.... प्रदान की जाने वाली गा ियाँ अब तक नहीं आ पायी हैं। कार्यक्रम घोषित हो चुका है। दूरदर्शन और अखबार वालों से लेकर प्रतिष्ठित लोगों को आमंत्रित किया जा चुका है।.... आस-पास के इलाकों से हजारों की तादाद में जनता पहुँच रही है। चुनाव निकट हैं। कार्यक्रम स्थगित करना असंभव है.... जो गा ी ललौना को भेंट की गयी है, वापिस चाहिये।' कह कर उन्होंने ढिबरी की काँपती लौ से धुँधलाये अँधेरे में टटोलती दृष्टि इधर-उधर दौ ाई और आँगन के कोने में ख ी गा ी को देख अपेक्षाकृत मुलायम स्वर में बोले, 'एक-आध रोज में ललौना के लिए मजबूत बैसाखियाँ बनवा देंगे.... वह आराम से चल-फिर सके, यही हमारा उद्देश्य है।'

सुक्खन भौजी के सिर पर मानों बिजली गिर प ी। वे उगँलियों में कसी ढिबरी फेंक कटे वृक्ष-सी मालिक के चरणों में ढह जाना चाह रही है। 'मालिक !.... मोरे बचौना की जिनगी न छीनो.... पहिया वाली गा ी पाय के वह हिरन की नाईं चौक ी भरत फिरत हय.... राँड मेहरिया की बुढ़ौती की आस हय अभागा.... गा ी छीन लेहौ तो कैसे जिई मोर ललौना ! कइसे जिई....' लेकिन प्रतिवाद में भीतर फूटता आर्त्तनाद ठाकुर सुमेर सिंह की उपस्थिति के आतंक में मूरत बन गया।

ठाकुर सुमेर सिंह उसे मूरत बनी छो देहरी के निकट आये। संकेत की प्रतीक्षा में बाहर ख े तीनों व्यक्तियों को उन्होंने अस्फुट स्वर में भीतर बुलाया और सुक्खन भौजी की परवाह किये बगैर गा ी दिखाकर आदेशात्मक स्वर में बोले, 'गा ी सावधानीपूर्वक उठाकर वैन में रख दो.... वैन इधर गलियारे से नहीं.... ऊसरवाली स क पर से निकाल ले जाओ।'

पेट से गले और गले से पेट के भीतर पछा खाते रुदन को मुँह तक न आने देने के प्रयास में थर्राती सुक्खन भौजी की ओर मु कर ठाकुर सुमेर सिंह मात्र इतना भर बोल कर देहरी की ओर बढ़ दिये, 'पूछा-पाछी होने पर कह देना.... गा ी चोरी चली गयी।'

काँपती टाँगों से सुक्खन भौजी ने किवा ों की साँकल चढ़ायी और पलटकर कुठरिया के भीतर दाखिल हो हाथ में कसी ढिबरी उस दीवाल की ओर उठा दी जिस पर पंचायत घर से प्राप्त अखबार की वह कतरन चिपकायी हुई थी, जिसमें गा ी पर बैठे हुये ललौना और बगल में हर्षित मुद्रा में ताली बजाते हुए जगदंबा बाबू की तस्वीर छपी हुई थी.... ।

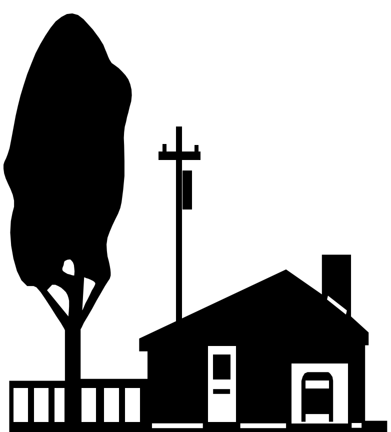 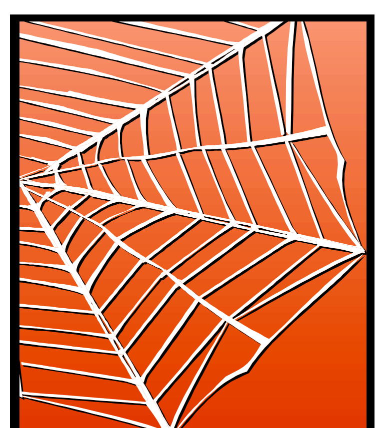

दूर अपने आप से....

रचना मिश्रा

दूर अपने आप से, कितना हुआ है आदमी।
ख़्वाहिशों की भी में, खोया हुआ है आदमी।

साये में लाइल्म[1] के, दिन-रात बढ़ता जा रहा,
इल्म के आफ़ाक़[2] में, बौना हुआ है आदमी।

चार पैसों के लिए अख़्लाक[3] अपना बेच कर,
घर में किस तौक़ीर से[4], बैठा हुआ है आदमी।

नफ़रतों के रट रहा है, बस पहा` बैठ कर,
प्यार की सब गिनतियाँ, भूला हुआ है आदमी।

ग़ौर से आँखों में उसकी, झाँक कर देखो ज़रा,
अपने अन्दर तक बहुत, टूटा हुआ है आदमी।

ये हक़ीक़त है यहाँ, दौर-ए-जहाँ की देखिये,
आदमी को ही यहाँ, भूला हुआ है आदमी।

हो गयी हर चीज़ मँहगी, आज दुनियाँ में मगर
कुछ हुआ सस्ता अगर, सस्ता हुआ है आदमी।

पाप के गहरे समन्दर में, ब` ही शौक़ से,
सर से लेकर पैर तक, डूबा हुआ है आदमी।

कह रही 'रचना' यहाँ, माना सभी ने दोस्तों,
कल से लेकर आज तक, किसका हुआ है आदमी...।

---

[1] अज्ञान
[2] संसार
[3] शिष्टाचार
[4] इज़्ज़त

युद्ध के बाद एक अकेली ल की

डॉ. मुक्ता

तंग कोठरी में घुटनों में सिर झुकाए बैठी रही
एक अकेली ल की

एक नहीं, दो नहीं. . . .पूरे पाँच दिन
जेना, नीली आँखों वाली मासूम इराकी ल की
कब आए, कैसे आए, कहाँ से आए ये हमलावार
उसे कुछ भी नहीं मालूम
वह चुप है
इराक़ की हवा की तरह चुप है जेना
काला धुआँ मँडराता रहा
गहराता रहा अँधेरा
अनाथालय का जाना पहचाना बूढ़ा पे रोता रहा अँधेरे में।

जेना ने अपनी माँ को नहीं देखा
वह छू कर देखती है
जीवन के उस हिस्से को
थामे रहा जो उसे पूरे पाँच दिन

जेना की स्मृति में विस्फोट की कोई आवाज़ नहीं बची
बची है सहेलियों की कराहें
खिलौने के चित्तीदार कप` से ढँक लिया है
उसने अपना उघ ा तन
उम्र से बहुत पहले ही ब ी हो गई है जेना
जेना की उदास आँखें इराक़ की हवा को
बोलने पर मज़बूर करती हैं।

आंतरिक ऊर्जा के बिना लेखन नहीं होता

संतोष गोयल का कमलेश्वर जी से आत्मीय संवाद

"क़लम के धनी, शब्दों की दुनिया के बादशाह, आवाज़ के जादूगर कमलेश्वर अपने आप में ही एक 'इरा'(Era) हैं। साहित्य जगत उन्हें जाने तो कोई आश्चर्य ही क्या? उन्हें तो देश का चप्पा-चप्पा, बच्चा-बच्चा जानता है। 'सारा आकाश', 'फिर भी', 'आँधी', 'अमानुष' जैसी बहुचर्चित व बॉक्स-ऑफिस पर हिट फ़िल्मों का स्क्रिप्ट-लेखन, दूरदर्शन के सफल कमेंटेटर, 'विराट', 'बेताल पच्चीसी', व 'चंद्रकांता' जैसे सीरियल के लेखक तथा अनेक कहानी संग्रह, उपन्यास, यात्रा विवरण आदि प्रत्येक विधा पर अपनी क़लम का कौशल दिखाने वाले चर्चित, विख्यात कमलेश्वर जी से एक अंतरंग संवाद करने की बात जब मन में आयी तो मन में ढेर से प्रश्न थे। उनके रचित सम्पूर्ण साहित्य से ही परिचित होना ज़रूरी न लगा, उन पर लिखी आलोचना पुस्तकों व साक्षात्कारों का पठन, फ़िल्मों को पुनः देखना जैसी अनेक स्थितियों से गुज़रना भी आवश्यक लगा। उन्होंने नयी कहानी के आंदोलन की शुरुआत की। 'कितने पाकिस्तान' जैसे उपन्यास के साथ देश की सांस्कृतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक व भौगोलिक यात्रा का भागीदार तो बनाया ही, किंतु हिंदुत्व बनाम हिंदुत्व' पुस्तक द्वारा हिंदू धर्म को व्याख्यायित व विश्लेषित भी किया। कम लोग जानते होंगे कि वे पुराण, इतिहास, हिंदू धर्म, समाजशास्त्र सभी का अध्ययन गहराई से करते हैं। यही नहीं बौद्ध, नाथ, जैन साहित्य के भी वे गहन अध्येता हैं। वे चाहते हैं कि हिंदू धर्म को संकीर्ण परिभाषा में न बाँधा जाये। अपनी इस कार्य प्रक्रिया में अनेक भाषणों के दौरान उन पर कई बार जानलेवा हमले भी हुए, किंतु लक्ष्य की प्राप्ति की राह कितनी भी कठिन हो, उन्होंने कभी उसे छो ा भी नहीं।

यहाँ प्रस्तुत है - उनसे किया गया - एक आत्मीय संवाद।" संतोष गोयल

आज आप अनेक सम्मान प्राप्त साहित्यकार हैं। और लोग सम्मानों की गिनती से साहित्यकार का दर्जा चाहे निश्चित करते हों किंतु आपकी तुलना तो बहुत पहले ही मैक्सिम गोर्की से की जा चुकी है, फिर भी इतने वर्षों बाद आपके लेखन को सम्मानों के रूप में स्वीकृति मिली। इस पर आपकी क्या प्रतिक्रिया है?

असल में, संतोष जी, मैं पहले सम्मान स्वीकार नहीं करता था। यह मेरी सोची-समझी नीति थी, क्योंकि साहित्यकार पुरस्कारों या सम्मानों का जो अजीब-सा हाल मैंने देखा, यह उसी की प्रतिक्रिया थी। शुरू में तो नहीं लगता था। उस समय तो सम्मान या पुरस्कार आपकी रचना को ही मिलता था, पर बाद में तो उनके साथ स्वार्थ व राजनीति जु गयी। बस, तभी से मैंने सोच लिया कि पुरस्कार नहीं लिये जाने चाहिये। तिस पर यह भी था, जिनसे पुरस्कार मिलते थे, लोग उन्हीं की भाषा में बात करते थे। इससे मुझमें वितृष्णा पैदा हुई, क्योंकि मैं अपने विचारों पर किसी को हावी नहीं करना चाहता था। अपने विचारों की गरिमा बचाये रखने के लिए यह निर्णय ज़रूरी था। जहाँ तक मेरे लेखन को सम्मान मिलने का सवाल है, तो पाठकीय स्वीकृति शुरू से मेरे साथ थी। मुझे लगता है कि पाठकीय स्वीकृति पुरस्कारों से कहीं अधिक सम्मानजनक व प्रेरणादायक है।

"कहानी निरन्तर परिवर्तित होती रहने वाली एक निर्णय केन्द्रित प्रक्रिया है।" अपने ही इस कथन की पृष्ठभूमि में आप आज कहानी को कहाँ रखेंगे?

जी, संतोष जी। यह मेरा ही बयान है। आज भी स्वीकार करता हूँ, क्योंकि कहानी मनुष्य, समय तथा समय के यथार्थ के बिना नहीं लिखी जा सकती। ये तीनों ही बातें निरंतर विकसित व परिवर्तित होते रहने को मज़बूर हैं और इस परिवर्तन को रेखांकित करना कहानी के लिए ज़रूरी हो जाता है।

आज की कहानियाँ पिछले दशक की कहानियों से बहुत अलग हो चुकी हैं। कहानी वैसे भी अपने समय के यथार्थ को पेश करने के लिए अपने अनुभव क्षेत्रों का निरंतर विकास करती है। उस अनुभव के विकास के कारण भी कहानी में परिवर्तन की प्रक्रिया लगातार जारी रहती है।

आज तो अभी लिखी दो कहानियाँ भी अलग हो सकती हैं। यह विविधता ही कहानी की प्राणशक्ति है। कहानी को कभी कथ्य की कमी नहीं रही। प्रश्न यह है कि कथ्य को सही तरीके से तराश दिया जाये। कृष्णा सोबती की कहानियाँ 'बादलों के घेरे' से 'ऐ ल की' तक कितना बदल गयी हैं। मेरा इशारा इसी तरह के परिवर्तन की ओर है।

पहले की कहानियों में जिस तरह भावनात्मकरूप में चीज़ों को तराशा जाता था, भावनात्मक उत्तर खोजे जाते थे, अब वैसा नहीं रहा। अब स्थिति के दंश को आपके अनुभवों का हिस्सा बना कर छो देने वाली कहानियाँ लिखी जाती हैं। यह बहुत ब ा परिवर्तन है जो खुद कहानी के भीतर घटित हुआ है।

आपकी एकाग्रता तथा लेखन की प्रतिबद्धता प्रभावित करती है। इतनी भागदौ , इतने लोगों के आवागमन की निरंतरता (आपके यहाँ सभी का स्वागत होता है) इतनी प्रकाशित पुस्तकों का अध्ययन, उन पर अपने विचार रखने के लिए मिलते ढेर से निमंत्रण, इन सबके बीच आपका लिखते रहना, कब और कैसे संभव हो पाता है ये सब?

यह एक तरह का भीतरी अनुशासन है, एकाग्रता है जो मेरे भीतर है। यह अनुशासन शायद मुझे बचपन के कठिन दिनों के कारण प्राप्त हुआ है। उस समय जिस-जिस तरह की कमियाँ मेरी ज़िन्दगी में थीं, उन्हीं में अपने होने का और सार्थक होने का एहसास प्राप्त करते रहना बहुत ज़रूरी था। उन कठिन दिनों में एक पूरा दिन तो क्या एक घंटा भी बर्बाद कर सकने की स्थिति में मैं नहीं था। अपने समय का अधिकतम उपयोग कर सकना अब तो मेरी आदत में शुमार हो गया है।

आज इतने वर्षों बाद मेरी साहित्यिक और सामाजिक ज़िम्मेदारियाँ थो ी बढ़ गयी हैं। भागदौ , गोष्ठियों में जाना, कभी-कभी न चाहते हुए भी साहित्यिक अनुष्ठानों को निभाना, पुस्तकों की भूमिकाएँ लिखना आदि अब लेखन के लिए भारी प ने लगा है। अब भागदौ करना कठिन लगता है, मेरा गिरता स्वास्थ्य शायद इसी के कारण जन्मी घबराहट का प्रमाण है। आजकल मुझे तीन डॉक्टर देखते हैं। मेरे डॉक्टर ने हिदायत दी है कि मैं इन सार्वजनिक ज़िम्मेदारियों से स्वयं को एकदम अलग करूँ अन्यथा नुक़सान उठाना प ेगा। असल में संतोष, लोकप्रियता अच्छी लगती है, लेकिन उसे निभाना मुश्किल होता है। फिर भी अपने भीतर के अनुशासन के कारण मेरा लिखना जारी रहता है। फिर यह भी मैं प्रायः किसी को मना नही करना चाहता, अतः जा न भी पाऊँ तो लिखकर दे देना अपना कर्तव्य समझता हूँ। मेरी प्रकृति है कि मैं दूसरों का लिखे को पढ़ना तथा उसके बारे में अपना मत देना चाहता हूँ। असल में लिखने के लिए पहले बहुत-सा पढ़ना आवश्यक है। तिस पर नये-नये मुद्दों से अवगत रहना एवं नव लेखन को पढ़ना भी ज़रूरी है।

पिछली बार जब आपसे मिली थी तो एक छोटी-सी पॉकेटनुमा टूटी-फूटी-सी डायरी में से आपने श्रीमती इंदिरा गाँधी के साथ बिताये क्षणों के कुछ अंश सुनाये थे, जो सूचनामात्र जैसे थे। यह डायरी लिखना आपने कब से शुरू किया? क्या आप जानते थे कि डायरियाँ भविष्य में आपके लेखन की सामग्री उपलब्ध करायेंगी?

जिस डायरी का जिक्र आप कर रही हैं, मैं वह लेखन के लिए इस्तेमाल नहीं करता हूँ। हाँ, पर डायरी मैं लिखता हूँ, यह मेरी आदत है।

डायरी लिखना एक तरह का डिस्प्लिन है। इससे आप अपने बारे में, अपनी प्रतिक्रिया के बारे में जान पाते हैं। अपना छोटापन व ब प्पन जान जाते हैं। डायरी आपको बेहतर मनुष्य बनाती है। अतः मैं तो कहूँगा कि डायरियाँ लिखने की आदत खुद को सँवारने के लिए अच्छी है। ये डायरियाँ समय-समय पर मेरे लिए सूचनाओं का अच्छा स्त्रोत साबित हुई हैं। यूँ वे साहित्य के लेखन के लिए इस्तेमाल में नहीं आयीं। अफ़सोस है कि सन् २००५ में अपनी अस्वस्थता के कारण मैं डायरी नहीं लिख पाया। इस डायरी के पन्ने खाली प े हैं।

'या कुछ और' कहानी में आपका कथन है, "मैं अपने आपको महसूस कर रहा हूँ, निज को भोग रहा हूँ। भोग क्या रहा हूँ, अपने आप से ल रहा हूँ। अब ल ाई शुरू होती है। यह भ्रष्टाचार की, भ्रष्ट भ्रष्टाचार की ल ाई है। यह किसने शुरू की? इसके लिए कौन ज़िम्मेदार है?" सन् '६७ में लिखी इस कहानी के इस वाक्य पर आज के संदर्भ में आप क्या टिप्पणी करना चाहेंगे? क्या आज भी यह ल ाई जारी है?

संतोष, आपने 'या कुछ और' कहानी का जिक्र किया। उसके दो-तीन वाक्य उद्‌धृत किये? वास्तव में, मेरी कहानियाँ मेरी अपनी सोच को अभिव्यक्ति देने का माध्यम हैं। मैं हमेशा से अपने समय के सवालों को समझने और निपटने के तरीकों को बताने की कोशिश करता रहा हूँ। यह कहानी चाहे सन् '६७ की है, पर आज भी यही सच है। असल मे, व्यक्ति स्वयं भ्रष्ट होता है, व्यवस्था के भ्रष्ट होने का सवाल बाद का है। भ्रष्टाचार का सवाल अहम् सवाल है। इसे यूँ ही नहीं छो देना चाहिए। व्यक्ति निजी कारणों से भ्रष्ट आचरण करता है, परिणाम व्यवस्था में भ्रष्टाचार फैलता है और फिर भ्रष्ट व्यवस्था को तो न सकने की स्थिति में भ्रष्ट होता जाता है। कुल मिलाकर भ्रष्टाचार के निजी कारण होते हैं। उनसे ल ना भी ज़रूरी है। यह ल ाई आज जारी भी है और ज़रूरी भी है। मेरा कहना है कि व्यवस्था की आलोचना करने की बजाय हर व्यक्ति को अपनी आलोचना करना सीखना चाहिए। स्वयं को सुधारने का बी ा अगर प्रत्येक इंसान उठा ले तो व्यवस्था तो सुधर ही जायेगी। हाँ, पर यह करना कठिन है, क्योंकि भ्रष्ट व्यवस्था का हिस्सा बन व्यक्ति उससे बाहर निकले कैसे?

आपकी सभी कहानियाँ कहीं कथ्य और कहीं शिल्प की दृष्टि से एकदम भिन्न हैं। कैसे कर पाते हैं आप ये सब? इस भिन्नता की वज़ह क्या है?

असल में, मैं कहानी लेखन की परम्परा को खुद पर हावी नहीं होने देता। हर कथ्य अपनी लंबाई, चौ ाई, गहराई और अपनी आकृति ग्रहण करता है। उसे अपना व्यक्तित्व चाहिये होता है जो वह खुद हासिल कर लेता है। लेखक उसे व्यक्तित्व प्रदान करने में सहायक माध्यम भर होता है।

कथ्य की विविधता तो ज़रूरी है। यदि आप स्त्री-पुरुष संबंधों भर को लेते हैं तो कहानी का दायरा छोटा हो जायेगा, कहानी सीमित हो जायेगी।

मैंने कोई भी कहानी तत्काल नहीं लिखी। हमेशा कहानियों के कथ्य मेरे दिमाग़ में वर्षों रहते रहे। वर्षों के अंतराल के पश्चात् कहानी बनने लगी, फिर मैंने कहानी लिख दी। कहानी के लिए मैंने नोट्स कभी तैयार नहीं किये। असल में, कहानियों के लिए कथ्य तो अनेक दिमाग़ में आते हैं, किंतु लेखक को वही कहानी याद रहती है, जो याद रखने लायक होती है।

शिल्प लेखक के समय के साथ बदलता जाता है, क्योंकि कथ्य भी बदल जाते हैं। कथ्य व शिल्प एक-दूसरे से जु े होते हैं। मैं समझता हूं कि लेखक की निग़ाह समाज के केवल एक हिस्से या कोने को नहीं देखती, ना ही देखना चाहिये। चारों ओर निग़ाह डालेंगे तो भिन्न कथ्य ही दिखायी देंगे और कथ्य के अनुसार शिल्प बदल जायेगा।

एक व्यक्तिगत प्रश्न? सन् '४६ में रचित 'फरार' तथा सन् '४८ में रचित 'कामरेड' कहानियाँ जो आपकी प्रथम कहानियाँ मानी जाती हैं, समाज के भ्रष्टाचार को उजागर करती हैं। क्या आपने उस आयु में प्रेम कहानी नहीं लिखी, जो प्रायः सभी उम्र के उस दौर में लिखते हैं। आपकी प्रथम प्रेम कहानी कौनसी है? यदि आज आप कोई प्रेम कहानी लिखें तो पहले रचित प्रेम कहानी और आज रचित प्रेम कहानी में क्या कोई अंतर आ जायेगा?

याद करूँ तो इसी समय यानी '४६-'४८ में मैंने प्रेम कहानी भी लिखी। मैं भूलता नहीं हूँ तो उसका शीर्षक था, 'आत्मा अमर है'। इसमें एक ल की जो प्रेम किसी और से करती है, का विवाह कहीं और हो जाता है। वह तन-मन से अपनत्व से रहती है, पारिवारिक ज़िम्मेदारियाँ निभाती रहती है किंतु जब भी रोटियाँ बेलती है, तो कभी भी गोल नहीं बनतीं, टेढ़ी-मेढ़ी हो जाती हैं। रोटियों के टेढ़े-मेढ़े होने के माध्यम से उसके भीतर पिछले बचे प्रेम के क्षणों का प्रभाव दर्शाया गया है।

वैसे, सच बात तो यह है संतोष जी, मेरा रुझान कभी प्रेम कहानियों को नहीं रहा। जीवन की ज़द्दोज़हद में जुटे व्यक्ति को इसका ध्यान रहता भी कहाँ है?

बहुत वर्षों बाद फिर मैंने एक और प्रेम कहानी लिखी जिसे संभवतः प्रेम कहानी कहा जा सकता है, जिसका शीर्षक था, 'जो कहा नहीं जाता'। यद्यपि मेरे उपन्यास प्रेम-प्रसंगों से अछूते नहीं रहे। प्रेम जीवन का अनिवार्य अंग है, किंतु मेरे विपरीत समय ने मुझे प्रेम कहानियाँ लिखने का अवसर ही नहीं दिया।

आज भी ऐसी कुछ कहानियाँ मेरे ज़ेहन में हैं। शायद कभी पन्नों पर उतर आयें। लिख लूँगा तो पता चल पायेगा कि आज की प्रेम कहानी का स्वरूप क्या होगा?

इन दिनों आपके द्वारा रचित उपन्यास 'ईश्वर' की बहुत चर्चा र्है। क्या है आपका ईश्वर का विज़न, कुछ बतायेंगे? 'धर्म' आज जिस रूप में उभर कर आ रहा है, वह स्थिति आपके मन में भी अनेक प्रश्न उत्पन्न करती होगी?

इस उपन्यास का नाम 'ईश्वर' प्रचलित हो गया है किंतु मैं इसका नाम यह नहीं रखूँगा, क्योंकि यह औपन्यासिक विज़न का शब्द नहीं है। इसका मुख्य कथ्य है कि ईश्वर ने मानव, समाज व धरती पर ज़रूरत से ज़्यादा अतिक्रमण कर रखा है। क्या ज़रूरत है इतने मंदिर, मस्जिद, गिरिजाघरों की, जितने दुनिया भर में मौज़ूद हैं। ईश्वर के नाम पर दो नम्बर की पूँजी का जितना निर्माण हो रहा है, हुआ है, वह भयावह है। ईश्वर और ईश्वर प्रदत्त जितने धर्मों की परिकल्पना की गयी है, उन धर्मों ने अपने नाम पर मृत्यु का जितना ब ा इतिहास रचा है, उतना तो किसी अन्य शक्ति ने हिम्मत भी नहीं की है।

धर्म के भयावह रूप का सीधा प्रमाण गुजरात का धर्म पोषित नर संहार है, अगर इसे न रोका गया तो इनसानी अस्तित्व को बचाना मुश्किल हो जायेगा।

इधर पिछले दिनों 'भारतीय संस्कृति' की अवधारणा को लेकर अनेक विवाद चले हैं। मैंने उन पर कुछ न कुछ लिखा या कहा है। इस कारण पूरे भारत का एक पाठकीय तबका मेरे साथ मौज़ूद है। उनकी अपनी वैचारिक, सांस्कृतिक ज़रूरतें हैं जो साहित्य की ज़रूरतों से थो ी अलग हैं। मैंने लगातार कहा है कि सांस्कृतिक राष्ट्रवाद एक छद्‌म तथा धार्मिक, वर्गवादी अनुष्ठानवाद है, क्योंकि पहले आपको राष्ट्र की परिभाषा स्वीकार करनी प ेगी, जो परिभाषा संविधान ने दी है, उसके बाद राष्ट्र की संस्कृति का प्रश्न आता है।

'संस्कृति' की परिभाषा बहुत विराट है। वह मात्र तहज़ीब नहीं है। संस्कृति आपके आंतरिक मनुष्यता के मूल्यों की परिचायक है। आप पहले अतिथि सत्कार करें, तथा उसके जाने के बाद उन्हें गालियाँ दें, यह संस्कृति का हिस्सा नहीं है। 'संस्कृति' मात्र 'धर्म' पर आधारित नहीं रह सकती, क्योंकि उसके गहरे सामाजिक आशय होते हैं। सन् '५० के संविधान से पहले हमारे पास केवल मनुस्मृति का संविधान था। उससे जो समाज में विकृतियाँ पैदा हुईं, उसका नतीज़ा हम आज तक भुगत रहे हैं। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद इसी मनुवादी सनातनता का दूसरा नाम है।

इस गहरे सांस्कृतिक वाद-विवाद के कारण मुझे सार्वजनिक रूप से अपने समय व उसके सवालों में शामिल रहना प ा है। आपको यह जानकर आश्चर्य नहीं होना चाहिये कि पिछले सात वर्षों में इस तरह के सांस्कृतिक सवालों पर मेरे नौ आलेख संग्रह आये हैं, जबकि मेरे कथा संग्रह केवल दस हैं। 'हिंदुत्व बनाम हिंदुत्व' संग्रह पर तो भयानक वाद-विवाद चल रहा है। यहाँ तक कि द्वारकापीठ (गुजरात) के शंकराचार्य ने भी इस पुस्तक को मँगवाया है। इस पुस्तक को पढ़ कर अनेक प्रतिक्रियाएँ हुई हैं, विरोध व घेराव गाली-गलौच ही नहीं, हिंसक हमले तक हुये हैं। ऐसे में मुझे लगता है कि ईश्वर, धर्म, संस्कृति सभी को पुनः परिभाषाबद्ध करना होगा। 'धर्म' का विकृत व दिखावे भरा होता रूप सचमुच चिंता का विषय है।

आपके 'कितने पाकिस्तान' उपन्यास पर बात करूँ। आपकी रचित 'बयान', 'जोख़िम', 'लाश', 'ल ई', 'रातें' जैसी सशक्त कहानियाँ जो राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक भ्रष्टाचार को तो अभिव्यक्ति देती ही हैं, आम आदमी की मज़बूरी, घुटन-यातना व टूटन को भी हृदयस्पर्शी ढंग से उजागर करती हैं। क्या 'कितने पाकिस्तान' आपकी बीती उसी लेखन यात्रा व सोच-विचार प्रक्रिया के फलस्वरूप जनमा है जो अपने आप में मानव का इतिहास है, भूगोल है, पुराण है और है - एक सांस्कृतिक यात्रा और उसके बीच हमारे आज के समाज का यथार्थ झाँकता है?

आपने बिलकुल सही समझा और सच कहा। इस उपन्यास की मूलभूमि उन तमान कहानियों तथा लौटे हुए मुसाफ़िर की है। वैसे आपको यह भी बताऊँ कि 'कामायनी' (प्रसाद रचित) का सामाजिक यथार्थ तथा प्रेमचंद का ठोस यथार्थ भी उपन्यास का मूलाधार है।

मैं कभी सांस्कृतिक इतिहास, भूगोल, समाजशास्त्र का विद्यार्थी नहीं रहा हूँ, किंतु मेरा मानना है कि अगर आप ईमानदारी से आँखें खोलकर जी रहे हैं तो ऐसी रचना बन ही जायेगी। यह रचना मनुष्य की कुदरती पहचान कराती है। यह तो नहीं कह सकता कि यह अनाचार कब समाप्त होगा, किंतु परिवर्तन की प्रक्रिया तो मनुष्य की सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक विकास के साथ जु ी है, इनकी रचना में परिवर्तन होगा तो वह उससे प्रभावित तो होगा ही। अब दलितों की स्थिति

में कितना परिवर्तन आ रहा है। असल में संतोष, मैं सदा से समाज के यथार्थ से जु ा रहा हूँ। समाज से जु कर आप स्वतः ही संस्कृति, इतिहास, पुराण से जु जाते हैं। तभी बन पाता है - मानव के यथार्थ का इतिहास। पर परिवर्तन तो आयेगा ही आयेगा क्या, आ रहा है। मनुष्य की चेतना जाग्रत हो रही है। अब अनाचार व अत्याचार का सिलसिला बंद नहीं, तो कम हो रहा है, क्योंकि आज आम आदमी उसके खिलाफ़ ल रहा है। अब दलित वर्ग की मानसिकता में बदलाव आया है। उन पर होने वाले अत्याचार का सिलसिला अब कम हो रहा है, हाँ, बंद तो नहीं हुआ है। यदि आज आम आदमी अनाचार-अत्याचार के ख़िलाफ़ ल रहा है तो भविष्य में कभी तो शांति पायेगा ही।

आपका उद्घोष है कि समाज में जब-जब अत्याचार व अनाचार होते हैं, तब-तब मनुष्य की चेतना जाग्रत होती है। तो क्या आप ये आशा रखते हैं कि कभी तो समय आयेगा जब आदमी शांति से जी पायेगा। 'धर्म' के नाम पर मानव मूल्यों का सर्वनाश होता रहा है। कैसे बदला जाये इस स्थिति को? बोधिवृक्ष कौन लगायेगा और कब ब ा होगा वह?

बोधिवृक्ष एक प्रतीक है। गौतम बुद्ध के प्रभाव के कारण सम्राट अशोक ने पंचशील का सिद्धांत स्थापित किया था। इसीप्रकार आज भी कोई व्यक्ति या समुदाय अवश्य ही ऐसा प्रयास करेगा और बोधिवृक्ष लगायेगा, ऐसा मेरा सोचना है। पर यह भविष्य के गर्भ में है। आज के संदर्भ में अगर देखें तो भारत व चीन और भारत तथा पाकिस्तान के बीच जो कुछ घटित हो रहा है, वह बोधिवृक्ष लगाने की ज़मीन की तैयारी ही है। शांति के प्रयास सफल होने ही चाहिये क्योंकि आवाम की सबसे ब ी ज़रूरत यही है। इसी पर देश, समाज व व्यक्ति टिका है।

'कितने पाकिस्तान' में ब्रिटिश साम्राज्य के कुकृत्यों का ज़िक्र करते हुए आपने लिखा है, 'जिन्ना केवल अँग्रेजों की शतरंज की चाल के मोहरे भर थे।' आज जो ग्लोब्लाइज़ेशन के नाम पर जिस बाज़ारवादी व्यवस्था का प्रारंभ हुआ है, उसमें सभी देश मोहरे बन गये हैं। इस सबका परिणाम क्या होगा?

ब्रिटिश साम्राज्य ने जितने भी कुकृत्य किये उनमें भारत का विभाजन सबसे त्रासद और दुखद था, हालाँकि इसकी कोशिश उन्होंने बंगाल के विभाजन से ही सन् १९०५ में शुरू कर दी थी जिसे जनता ने अस्वीकार भी किया था, फिर भी अँग्रेज इस कुकृत्य में सफल हो गये। इस विभाजन तक अँग्रेजों ने इस तरह के जनवादी तत्व तैयार कर लिए थे जो विभाजन की तिक्तता और सांस्कृतिक अवसान का आकलन नहीं कर सके। यह त्रासदी धर्म के नाम पर ही हुई थी। पहले भी इस तरह का शोषण उपनिवेशवाद के रूप में था। अँग्रेजों ने अपनी सत्ता के द्वारा वनों, खनिज संपदा तथा खेती, सभी का दोहन जिस प्रकार किया, आज भी सबको याद होगा। बाज़ारवाद इसी का विकृत रूप है जो अमेरिकन पूँजी की मदद से विकसित हुआ है। पहले सत्ता पर सत्ता का अधिकार स्थापित करके शोषण किया जाता था, अब वही काम पूँजी के बल पर किया जा रहा है। आप सभी देखते होंगे कि भारतीय समाज, जिसका बाज़ारीकरण अभी पूरी तरह नहीं हो सका है, वह भी बहुराष्ट्रीय कंपनियों की पूँजी का शिकार हो रहा है। ब ी पूँजी, छोटी पूँजी को आपदस्थ करती जा रही है। इस बाज़ारवाद में हमारी ग्रामीण अर्थव्यवस्था को बहुत नुकसान पहुँचाने की कोशिश की है। हमारे अन्न और अन्य उपज अपनी गुणवत्ता में बाज़ारवाद के हिसाब से कम मूल्यवान ठहरा दी गयी है। आज हमारी सरसों की खेती बंद हो रही है, जिसके बीजों पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों का अधिकार है। इस बाज़ारवाद का परिणाम अंततः हमारी संस्कृति पर प ेगा ही। और आप देखिये, जब से ड्रापसी नाम की बीमारी चली है और सरसों की पैदावार कम होती जा रही है तब से 'बसंत' पर बहुत कम रचनाएँ लिखी जा रही हैं। यह साहित्य के लिए निराशाजनक स्थिति है।

आज फैलती बेरोज़गारी का हल भी शायद स्वरोज़गार ही है। अपने रोज़गार के प्रति निष्ठा तथा अपनी बनी वस्तुओं को ही ख़रीदना - यही एकमात्र हल है। कब आयेगा यह परिवर्तन, यह बताना आज तो कठिन है, किंतु शायद धीरे-धीरे आयेगा ही। आख़िर कब तक व्यक्ति बिकता रहेगा तथा दूसरों के सहारे जिन्दा रहता रहेगा।

पिछले साठ वर्ष से आप निरंतर लेखन कर रहे हैं। तीन सौ से अधिक कहानियाँ, अनेक ब े फलक के उपन्यास, फ़िल्मों की पटकथाएँ, दूरदर्शन के लिए लेखन, किसी न किसी समाचारपत्र से जु ाव, अलोचना, पुस्तकों का लेखन. आपकी लेखकीय क्षमता चमत्कृत करती है। कैसे कर पाते

हैं आप ये सब? ऐसा क्या है जो आपको लिखने को प्रेरित भी करता है और विवश भी। इस संबंध में कुछ बताएँ। शायद हमें भी कुछ प्रेरणा मिले?

संतोष, मेरी जो आंतरिक ऊर्जा, रचना का आंतरिक कारण मूलरूप से परिवर्तन की आकांक्षा है वो चाहे मैं फ़िल्मों, दूरदर्शन के कार्यक्रम, साहित्य के माध्यम से करूँ। मैं कहीं न कहीं मनुष्य की स्थितियों - सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक परिवर्तन का प्रतिबद्ध हामी हूँ। समाज के सोच की यह संरचना जिसमें मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण हो रहा है, उसके प्रति मेरे मन में आक्रोश जन्मता है। इस शोषण का अंत होना चाहिए, यह दुनिया बदलनी चाहिए, यह सोच ही मेरी ऊर्जा का मूल स्त्रोत है। नये लेखकों के लिए भी मेरा सुझाव है कि मानव स्थितियों की ओर सजग-सचेत दृष्टि डालें, मुद्दे खुद ब खुद सामने आयेंगे। मन में आक्रोश जनमेगा, जो ऊर्जा बनेगा, तब जो लिखा जायेगा, वह प्रभावित भी करेगा और पाठक तक पहुँचेगा भी।

आपकी प्रथम फ़िल्म थी, 'सारा आकाश' उसके पश्चात् आपने लगभग निन्यानवें फ़िल्मों में सहयोग दिया। अब आपकी सौवीं फ़िल्म 'इंदिरा गाँधी' पूर्ण होने वाली है। पुराने ज़माने में चर्चित नायकों के जीवन पर आधारित फ़िल्म लिखना व बनाना सरल था, किंतु आज यह काम ज़ोखिम भरा नहीं है क्या?

यह सच है संतोष ! आज इस प्रकार की फ़िल्म बनाना ज़ोखिम भरा तो है किंतु शायद आवश्यक है, अन्यथा आँखों-देखी परखी घटनाएँ व बातें बाद में इतिहास भर बन जाती हैं और इतिहास लिखने वाले के नज़रिये से लिखा जाता है। यथार्थ जानने व बताने के लिए यह आवश्यक है। हाँ, यह सच है कि इस प्रकार की फ़िल्में बनाना कठिन इसलिए भी हो गया है कि फ़िल्म माध्यम की केन्द्रीयता का सामाजिक अंश मनोरंजन में बदल चुका है। अब फ़िल्में मनोरंजन केन्द्रित हैं - मनोरंजन भी फूह क़िस्म का। आज ऐसी फ़िल्में बनाने का अर्थ है - पैसे का जोखिम। असल में, आज फ़िल्म एक उद्योग में बदल गया है जिसका लक्ष्य है धन कमाना। तिस पर जब से तस्करों का पैसा फ़िल्मों में लगने लगा है उसका सांस्कृतिक पक्ष समाप्त हो गया है। यह भयावह स्थिति है। सामाजिक-सांस्कृतिक पक्ष को काट कर बनी फ़िल्में समाज को क्या देंगी, यह सोचना आवश्यक है।

मन में एक बात आती है कमलेश्वर जी, फ़िल्म माध्यम आपने चुना ही क्यों? फ़िल्म और रचनात्मक लेखन के लक्ष्य तो अलग-अलग हैं। फ़िल्म का मूल उद्देश्य है, धन कमाना जबकि रचना लेखक की मानसिक उथल-पुथल व सोच-विचार का विवशता भरा परिणाम होती है।

संतोष ! फ़िल्म माध्यम अशिक्षित लोगों तक पहुँचने का माध्यम है। रचनात्मक लेखन तथा फ़िल्म लेखन के दायित्व अलग हैं। अपनी बात को जन-जन तक पहुँचाने के लिए यह आवश्यक माध्यम है। सिनेमा ने लिखित शब्द को मुखरित किया है। आम जनमानस इससे जल्दी ही जु पाता है तथा प्रभावित होता है। यह अलग बात है आज सिनेमा का लक्ष्य मात्र धन कमाना रह गया है। वैसे लेखक के लिए भी यह धन कमाने का ज़रिया है। प्रकाशित पुस्तकों की रॅायल्टी की स्थिति तो आप जानती ही हैं। मेरे लिए यद्यपि धन कमाना कोई मूल लक्ष्य नहीं था, पर इस बात से इंकार भी नहीं करता कि मैंने इस माध्यम से जीवन की अनेक सुविधाएँ कमायी हैं।

कमलेश्वर जी ! आप देखते हैं ही कि साहित्यिक पत्रकारिता में आज बेहद परिवर्तन आ गया है। अच्छी प्रतिष्ठित पत्रिकाएँ बंद हो गयी हैं, जो नयी आ रही हैं, वे ख़ासा गुटबाज़ी व ख़ेमेबाज़ी कर रही हैं। ऐसे में हिंदी साहित्य की पत्रिकाओं का भविष्य क्या होगा?

आप ठीक कहती हैं संतोष जी, साहित्यिक पत्रिकाओं का स्वरूप अब बहुत बदल गया है। आज पत्रकारिता व्यक्तिगत हो गयी है। ब घरानों की पत्रिकाएँ बंद हो जाने के कारण जिस रचनात्मक भूमिका को लघुपत्रिकाओं ने निभाया, वह ख़तम हो चुकी हैं। पत्रिकाओं के अपने सीमित क्षेत्र हैं। यही कारण है कि लेखक वर्ग भी गुटबाज़ी से ग्रस्त हो गया है। आज लेखन आय का स्त्रोत हो गया है, अतः इन पत्रिकाओं में अच्छे व लब्ध प्रतिष्ठित लेखकों की दोयम दर्जे की रचनाएँ भी छपती हैं। लेखक की मानसिकता भी बदली है। आज छपने के लिए संपादकों के मतानुसार लिखना तथा उनकी चमचागिरी करना भी लेखकीय कर्म का हिस्सा हो गया है।

अब 'इंटरनेट पत्रिका' को ही लीजिए। वह भी प्रभावशाली है, क्योंकि वह मुद्रण से जु ी है। उसमें संपादक तथा लेखक का आमना-सामना न होकर संपादक व रचना का संपर्क होता है। आज तो हिंदी की अनेक अच्छी इंटरनेट पत्रिकाएँ आ गयी हैं। आज टी.वी. पत्रकारिता भी उभर कर आयी

है। यह तात्कालिक घटना को महत्वपूर्ण बना कर प्रस्तुत तो करती है किंतु समय के बंधन के कारण बहुत अधिक जानकारियों का स्त्रोत नहीं बन पाती है। उसकी तात्कालिकता उसकी शक्ति भी है और कमज़ोरी भी है।

एक साहित्यिक पत्रिका निकालने का विशेष उद्देश्य क्या होना चाहिये? अच्छे साहित्य का प्रकाशन, रचनाकारों को निरपेक्ष भाव से प्रोत्साहित करना तथा नये उभरते रचनाकारों की अच्छी रचनाओं को प्रकाशन का एक कोना देना भर क्या पत्रिका के प्रकाशन का उद्देश्य नहीं हो सकता? आज साहित्यिक पत्रिकाओं में जो गुटबाज़ी व गिरोहबाज़ी हो रही है, उससे बचने के लिए क्या शुद्ध साहित्यिक पत्रिकाएँ निकालना आवश्यक नहीं हो जाता?

बिलकुल सही। साहित्यिक पत्रिका का उद्देश्य ही साहित्यिक रुचि जाग्रत करना तथा सामाजिक-सांस्कृतिक उत्थान का लक्ष्य प्राप्त करना है। मेरा ख़याल है कि पत्रिकाएँ ब े संस्थानों की बजाय छोटे संस्थानों से निकलें। जब तक छोटे-छोटे संस्थान पत्रिकाओं के प्रकाशन के लिए सामने नहीं आयेंगे तब तक अच्छे साहित्य का प्रकाशन कठिन है। अब विनोद शंकर व्यास द्वारा प्रकाशित पत्रिका 'मधुकरी' को ही लें। नये रचनाकारों की अच्छी रचनाओं को स्थान देकर ही उस पत्रिका ने अपना स्थान बनाया है। संपादक व रचना का संबंध होना चाहिये। उसे ब े नामों की छोटी रचनाओं को नहीं प्रकाशित करना चाहिये। पत्रिकाओं के संपादक मिल कर एक मंडल बनाएँ तथा आचारसंहिता भी निश्चित करें। आज पत्रिकाओं के माध्यम से हमारी युवा पीढ़ी को भी निर्देशित करने की आवश्यकता है। छोटी-सस्ती, युवाओं की समस्याओं से जूझती तथा उनके द्वारा रचित रचनाओं को स्थान देती पत्रिकाओं की बेहद ज़रूरत है। पाठकों की रुचि को बनाये रखना भी एक अहम् सवाल है। पश्चिम की नकल करती पीढ़ी में साहित्यिक रुचि जगाने का महत्वपूर्ण मुद्दा अनेक सवालों के साथ ख ा है। पत्रिकाओं को यह रोल भी निभाना चाहिये।

हिंदी भाषा की गति और स्थिति पर बात करें तो आज हिंदुस्तान में, हिंदी प्रदेशों में भी हिंदी द्वितीय स्तर की भाषा बन गयी है। भाषा, वास्तव मे, केवल अभिव्यक्ति का साधन नहीं होती अपितु वह बोलने वाले का सम्पूर्ण व्यक्तित्व होती है, उसकी मानसिकता व सोच होती है। दूसरी भाषा को प्रथम दर्जा देकर हम अपना सब कुछ खो रहे हैं। तिस पर साहित्य भी पता नहीं कैसा रचा जा रहा है। क्या ये रचनाहीनता की स्थिति नहीं है?

वास्तव में संतोष, हिंदी का विकास व विस्तार इतना अधिक हुआ है कि भाषा के स्वरूप में विविधता या थो ी-सी विकृति का आ जाना लाज़मी है। हिंदी का वक्ता क्षेत्रीय भाषा समूह से निकल कर आता है, हिंदी बोलते समय अपने क्षेत्र की भाषा की मिलावट जाने-अनजाने कर लेता है। यही कारण है कि हिंदी का स्वरूप स्थिर नहीं हो पा रहा है। यह स्थिरीकरण व स्तरीकरण होना भी नहीं चाहिये, नहीं तो भाषा का विकास अवरुद्ध होगा। जब तक हिंदी आम औसत भावनाओं को अभिव्यक्ति दे सकने में समर्थ है तब तक वह जीवित रहेगी। कोई भी भाषा पुस्तकों में जीवित नहीं रह सकती। फिर जो पुस्तकीय हिंदी लिखी जा रही है, उसके लिए पाठकों का अकाल है। पत्रकारिता ने हिंदी के स्वरूप को विकसित भी किया है। ये ज़रूरी भी है, क्योंकि आम आदमी ही भाषा का जनक है। हम या आप हिंदी का निर्माण नहीं कर सकते।

हिंदी दोयम दर्जे की भाषा ज़रूर बन गयी है, यह भी एक सच है, पर एक सच यह भी है कि आज वह क्षेत्रीय साहित्य व संस्कृति को जो रही है। यह बहुत महत्वपूर्ण है। अँग्रेजी के वर्चस्व का मूल कारण रोज़ी-रोटी की प्राप्ति के साथ जु ा है, पर कोई भी भाषा रोज़ी-रोटी की तलाश के सहारे जीवित नहीं रह सकती। भाषा को मनुष्य के आंतरिक और गहरे संवेगों को ले कर ही चलना प ता है। हिंदी ने इस दायित्व को अच्छी तरह निभाया है।

पूरा दलित, महिला व आदिवासी लेखन हिंदी की शक्ति है। यह अँग्रेजी के माध्यम से नहीं हो सकता। हाँ, अँग्रेज़ी के कारण जो हम खो रहे हैं, वह कुछ दशकों के पश्चात् रिस्टोर (restore) हो जायेगा, ऐसा मैं सोचता हूँ। हमारी ग्रामीण संस्कृति कभी तो बाहर निकल कर आयेगी। अभी तक ७०प्रतिशत ग्रामीण जनता ख़ामोश है।

एक प्रश्न और मन में कौंधता है, कमलेश्वर जी। आप वारिष्ठतम लेखक व पत्रकार हैं। आप जानते हैं कि आज स्पिक मैके (SPIC MACAY) के 'लेकडेम' (Lec-Dem) कार्यक्रमों का आयोजन किया जा रहा है, जिससे आज की युवा पीढ़ी के मन में संगीत के प्रति रुचि जाग्रत हो रही

है। ऐसे ही साहित्य में रुचि उत्पन्न करने वाले किसी कार्यक्रम की योजना बनाये जाने की आवश्यकता महसूस होती है। आप इसके लिए कोई सुझाव देंगे।

बिलकुल ! संतोष, यह तो बहुत अच्छा होगा। बहुत अच्छा सुझाव है। इस पर हम सबको सोचना होगा। आप, जो विश्वविद्यालय से सम्बद्ध हैं तथा सभी साहित्यकारों को अपनी-अपनी गुटबाज़ी से निकल कर इस पर योजनाबद्ध तरीके से काम करना चाहिये। मैंने पहले भी सुझाव दिया था कि संपादकों का एक मंडल बने। वह पत्रिका के साथ युवाओं को जो ेे। उनके लेखन का काम्पीटीशन हो। उन्हें उत्साहित करे। यद्यपि अब कुछ परिवर्तन आया भी है। हिंदी अकादमी, साहित्य अकादमी, उर्दू तथा पंजाबी अकादमी निरंतर साहित्यिक गतिविधियों से जु ी हैं पर, विद्यालय, महाविद्यालय व विश्वविद्यालय स्तर पर इस प्रकार के कार्य अधिक प्रेरणास्पद होंगे। आपका सुझाव मैं ध्यान में रखूँगा और ज़रा-सा स्वस्थ होते ही इसकी ओर क़दम बढ़ाऊँगा। हाँ, आज ये विचार के स्तर पर आया सुझाव, कल कार्यबद्ध भी होगा, मुझे यक़ीन है।

वैसे 'सेक्स' को लेकर सांस्कृतिक शिक्षा देने की बहुत अआवश्यकता है। इधर 'पुस्तक विमोचन' जैसे कार्यक्रम अत्यंत बनावटी हो गये हैं। आजकल पत्रिकाओं तथा टी.वी. पर दिखायी जाती पोर्नोग्राफ़ी भी बंद होनी चाहिए। गटर लिट्रेचर और पीली पत्रकारिता को कैसे बंद किया जाये, यह भी सोचना चाहिये। 'प्राइवेसी' व्यक्ति का अधिकार है। नये-नये आते इलेक्ट्रॉनिक उपकरण इस प्राइवेसी का हनन कर रहे हैं, यह चिंताजनक है। सांस्कृतिक समन्वय की पूरी परंपरा को लेकर छोट-छोटे कार्यक्रम एक साथ होने चाहिये। विविधता को एकता के सूत्र में बाँधा जाना चाहिये।

कमलेश्वर जी, आप चातुर्आयामी व्यक्तित्व हैं। सामने दीखते लेखन से जु े अनेक आयामों के संबंध में तो प्रायः आपकी रचनाओं, कथनों, भाषणों, भेंट वार्ताओं के माध्यम से हम जान पाते हैं, किंतु आपके व्यक्तिगत जीवन का चौथा आयाम, उसके बारे में जानने की इच्छा है। आपके जीवन के कुछ खुशनुमा लम्हें, गायत्री जी के संग बिताये स्मरणीय क्षण, लेखन के अतिरिक्त आपकी प्रिय हॉबी, प्रिय रंग, मनपसंद खेल, भ्रमण-स्थल, आपके प्रिय साहित्यकार-लेखक, इनके बारे में कुछ जानकारी देंगे तो यह बातचीत एक 'आत्मीय संवाद' हो पायेगी, जो मैं इसे बनाना चाहती हूँ।

इस प्रश्न का उत्तर देते हुये कमलेश्वर जी कुछ खो-से गये और फिर बोले :

संतोष ! इसके बारे में क्या बोलूँ? यूँ तो मेरा बीता वक्त बहुत जद्दोज़हद का रहा। निरंतर की जद्दोज़हद ने मुझे जीने और लिखने की ऊर्जा दी। 'परिक्रमा' कार्यक्रम ने जिस प्रकार मुझे समाज के उस वर्ग के साथ जो दिया था, जो उपेक्षित था। उनकी समस्याएँ जब खुल कर दूरदर्शन के पर्दे पर दिखायी भी जाती थीं तथा उन पर लोग मात्र प्रतिक्रिया ही नहीं करते, हल करने के लिए आगे बढ़ कर आते हैं, मेरे लिए वे खुशनुमा पल होते थे।

मुझे सिगरेट पीना अच्छा लगता है। यद्यपि आज स्वास्थ्य की दृष्टि से कुछ बंदिशें लगा दी गयी हैं, पर उ ते धुएँ के साथ मेरे विचार और भाव भी तेज़ गति से चल निकलते हैं। शाम के समय एक ग्लास ड्रिंक मेरा मनपसंद पास-टाइम है। इस ड्रिंक के लिए मुझे किसी साथ की आवश्यकता नहीं है। बस, मैं और मेरा ड्रिंक, मेरा सोच, मेरी विचार प्रक्रिया। हालाँकि पिछले कुछ महीनों से यह बंद-सा है। एक और सच बताऊँ। मैं डगमगाया नहीं - न ही ज़िन्दगी में, न ही पी कर। 'आई जस्ट इन्ज्वॉय इट'।

फिर कुछ खोये-सोचते हुए वे बोलते रहे, 'गायत्री ने फूलों का जो बाग़ बना रखा है, जिसे वह अच्छे से रखती हैं, बच्चों-सी देखभाल करती हैं, उन फूलों को बढ़ते हुए देखना मुझे बहुत अच्छा लगता है।

अपने परिवार में, अपने भतीजों-भांजों, ग्रैंड चिल्ड्रन के साथ मिल-बैठ कर गप्पें करना, ताश खेलना मेरे लिए सबसे अधिक खुशनुमा पल होते हैं।

हाँ, संतोष ! जानती हैं मेरा प्रिय विषय विज्ञान था। 'जमालपुर रेलवे इन्स्टीट्यूट' में मेरा दाखिला हो गया था, पर मेरा लेखक मन उसकी रूखी दुनिया में रमा नहीं। मुझे पेंटिंग प्रिय थी। मेरी राइटिंग पर मुझे अनेक पुरस्कार मिले। हॉकी मेरा प्रिय खेल था, हालाँकि परिस्थितियों ने इतना वक्त नहीं दिया कि मैं अपनी हॉबीज़ को ज़ारी रखे रहता।

मेरा प्रिय रंग 'नीला' है, हालाँकि किसी भी पेस्टल रंग को पहन लेता हूँ। घूमा बहुत हूँ। बहुत सी जगहें पसंद हैं। प्रकृति के प्रांगण में मेरा मन रमता है। कोणार्क के रास्ते में मिलते 'झाऊ' (Scapine) की छवि मेरे भीतर बसी है। मध्य प्रदेश में बहती बेतवा के किनारे, उस पर टेसू के फूलों से लदे पे , इलाहाबाद हाइकोर्ट के पीछे अमलतास से लदे रास्ते, श्रीनगर की ओर जाते रास्ते में लगे चिनार से दिखते नज़ारे. . . .क्या-क्या बताऊँ? आपने तो मुझे यादों के घेरे में घुसा दिया था। बोलने लगूँगा तो बोलता ही चला जाऊँगा।

शायद यही चारों ओर का माहौल है, जो मेरे भीतर जिंदा रहता है, मेरे लिखने का कारण बनता है।

वैसे संतोष ! विज्ञान का विद्यार्थी होना रहा बहुत लाभदायक। विज्ञान ने मुझे अनुशासन सिखाया, समय को सुनियोजित करने का गुण दिया। मैंने समय और शरीर का सही व पूरा उपयोग किया, कर पाया, यही मेरे संस्कार, यही मेरा गुण है और यही मेरी साधना और साध्य है।

फिर कुछ खोये हुये से, 'मेरे पिता का स्वर्गवास तब हो गया था जब मैं तीन वर्ष का था। मेरी परिवरिश मेरी माँ ने की। 'एंड शी हैज़ बीन माई मेंटर'। ('& she has been my mentor'.)

कमलेश्वर जी अचानक बेहद उदास हो आये। आँखों में मानो नमी उतर आयी। उदास वाणी में बोले, 'मेरे ब े भाई जो मुझसे चौदह साल ब े थे, उनकी पत्नी, मेरी भाभी जी मेरे लिए माँ समान थीं, मुझे छो कर चल दीं। मेरे भीतर बहुत उदासी छायी है. . . .पर काम तो बंद नहीं होता. . . .अस्वस्थ होने के कारण मैं वहाँ जा भी न सका।'

कमलेश्वर जी की उदासी व दुख उनकी आवाज़ तथा आँखों की नम हो आयी कोर से झलक रहा था। इतने कर्मठ व्यक्ति को मैंने मन ही मन नमन किया।

वे बोलते रहे - मेरे अनेक दोस्त हैं, बल्कि सभी मेरे दोस्त हैं। मैं दोस्ती शर्तों पर नहीं करता हूँ। जो मुझे जैसा मिलता है, मैं उसे वैसा ही स्वीकार करता हूँ। एक अच्छे संबंध के लिए शायद यही पहली शर्त है। मोहन राकेश, मार्कंडेय, दुष्यंत कुमार, राजेन्द्र यादव, मन्नू भंडारी, भी मेरे अच्छे दोस्त हैं।

कमलेश्वर जी, आपको जानना एक सम्पूर्ण व्यक्ति, एक सफल साहित्यकार तथा एक गहन विचारक को जानने जैसा है। आपके इस 'आत्मीय संवाद' से हम तथा हमारे सभी पाठक अपने जीवन को संयमित व नियमित करने की प्रेरणा पायेंगे।

समय देने तथा धैर्य व सहनशीलता से इतनी लम्बी बातचीत के लिए 'धन्यवाद' या 'आभार' बहुत छोटा-सा शब्द है, कैसे कहूँ? कह दूँ तो मात्र औपचारिकता होगी।

तन्हा तन्हा
रश्मि सानन

उम्र भर यूँ ही बस चलते रहे तन्हा तन्हा।
ठोकरें खा के सँभलते रहे तन्हा तन्हा।।
किसी हमदर्द ने छाँव न नवाज़ी हमको।
दर्द की धूप में जलते रहे तन्हा तन्हा।।
न किसी से गिला न कोई शिकायत हमको।
खुद ही अपने से उलझते रहे तन्हा तन्हा।।
अजनबी बनके भी जीने का हूनर सीख लिया।
अपनी पहचान बदलते रहे तन्हा तन्हा।।
दिल के अरमान शबे हिज्र मेरी आँखों से।
अश्क़ बन बनके निकलते रहे तन्हा तन्हा।।
इक घरौंदा भी हक़ीक़त में जो दुश्वार हुआ।
बस्तियाँ ख़्वाबों की बुनते रहे तन्हा तन्हा।।
जब खुशी दहर में भूले से भी हासिल न हुई।
ग़म के साँचे ही में ढलते रहे तन्हा तन्हा।।
हमने खुद जलके ज़माने को उजाले बख़्शे।
शम्मा की तरहा पिघलते रहे तन्हा तन्हा।।

पूर्णत्व की प्राप्ति

दिनेशनन्दिनी डालमिया

मानव-जीवन अपने पूर्णत्व को प्राप्त करने की दिशा में निरंतर प्रयत्नशील है। वह सोचता है कि वह पूर्णत्व की ओर अग्रसर हो रहा है किंतु वह अपूर्ण है। विडम्बना यह भी है कि वह स्वयं में पूर्ण ही है। फिर यह कैसा पूर्ण है जो पूर्ण की ओर जा रहा है?

बात केवल इतनी-सी है कि पूर्णता खोजता हुआ व्यक्ति नहीं जानता कि वह पूर्ण है। और इस ज्ञान के अभाव में अधूरेपन का अहसास लिए कस्तूरी-मृग-सा यहां-वहाँ भटकता रहता है, आत्म-स्वरूप को ही नहीं पहचान पाता।

अपूर्णता से पूर्णता तक पहुँचना कोई भौतिक कर्म नहीं कि सामान बाँधा और यात्रा पर चल दिए। यह यात्रा स्वयं से चलकर स्वयं तक पहुँचने की यात्रा है। यहाँ सामान बाँधकर नहीं, छो कर चलना होता है।

एक अधूरेपन के अहसास के वशीभूत होकर आवश्यकताओं से लेकर विलासिता तक कि वस्तुएँ हम अपने आस-पास संचित करते रहते हैं। यहाँ तक कि वे वस्तुएँ हमारे अस्तित्व का अभिन्न अंग बन जाती हैं। अपनी सम्पूर्ण चेतना को हम उसी में समेटकर रख लेना चाहते हैं किंतु हमारा चैतन्य इससे संतुष्ट नहीं होता। वह पूर्णत्व की तलाश में भटकता है। इस लक्ष्य की प्राप्ति की राह पूछते व खोजते हुए हम विपरीत दिशा में चलते-चलते अपने गन्तव्य से दूर और दूर होते जाते हैं। पूर्णत्व की प्राप्ति के लिए हमारी छटपटाहट बढ़ती जाती है।

यह पूर्ण होते हुए अपूर्ण होने की अनुभूति हमारा भ्रम हैं किंतु इस भ्रम को दूर करना बहुत कठिन है। इससे टकराने के लिए यह समझना अत्यंत आवश्यक है कि वास्तव में, यह भ्रम है। यह समझ ही वह ज्ञान है जो हमें अपने आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार करवाता है। संसार वही रहता है, केवल हमारा नज़रिया बदल जाता है। जिस संसार को हम सबकुछ मान बैठे थे, जिसके सुख-दुख, राग-विराग, लाभ-हानि, अच्छा-बुरा, उत्थान-पतन के साथ तादात्म्य संबंध रखते थे, वह एक भ्रम है। अपूर्णता का अहसास भी इसी भ्रम से उत्पन्न होता है। भ्रम से मुक्ति ही ज्ञान है और ज्ञान ही पूर्णत्व है।

भ्रम से मुक्ति का तात्पर्य यह नहीं कि संसार को अपने समग्र रूप में भ्रामक बताकर इसे अस्वीकार कर दिया जाए। मुक्ति वह है जो उसे भ्रम-रूप में ही स्वीकार करे। मायाजगत का अपना स्थान है जिसे आज का विज्ञान भी सीमित सत्य के रूप में ही स्वीकार करता है। यह पूर्णत्व का ज्ञान कोई वस्तु नहीं, जो प्राप्त की जा सके। यह वह स्थिति है जो मुक्ति की राह है।

वैदिक ऋचाओं तथा उपनिषदों में ऋषियों ने तरह-तरह से हमें इसी मुक्ति का मार्ग दिखाने का प्रयास किया है।

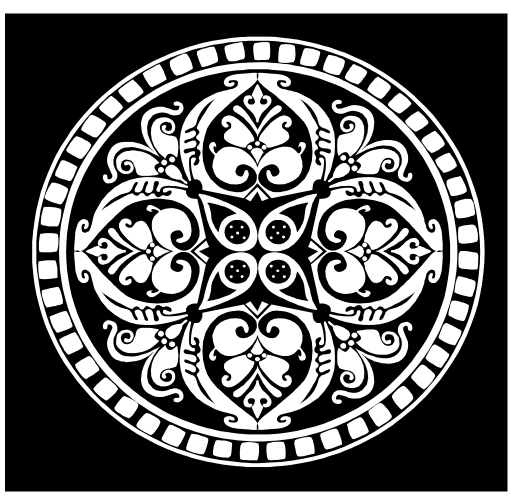

गीली माटी

ज्योति कालरा 'उम्मीद'

सम्भावनाओं के मुट्ठी भर बीज
बिखेरे तो हैं गीली माटी में
उगेगी उमंग, शांति, संगीत चमन में
निश्चित है।

पूर्ण होगा, सार्थक होगा, संपन्न होगा हर संकल्प
जीवन बंजर रेत नहीं
जीवन गीली माटी है
संभावनाओं से युक्त
उल्लास से पूर्ण
भय से मुक्त।

नहीं करती विभक्त
करती है संयुक्त गीली माटी
एक नन्हें बीज से
उगाती है पे -पौधे
पत्ते, फूल, फल, छाया, ऑक्सीजन।

चतुर सयानी ल की-सी है गीली माटी
बनाती है घर, नहीं करती विध्वंस
संजोती है, सँवारती है धरा
संभावनाओं से हरी-भरी रहती है गीली माटी।

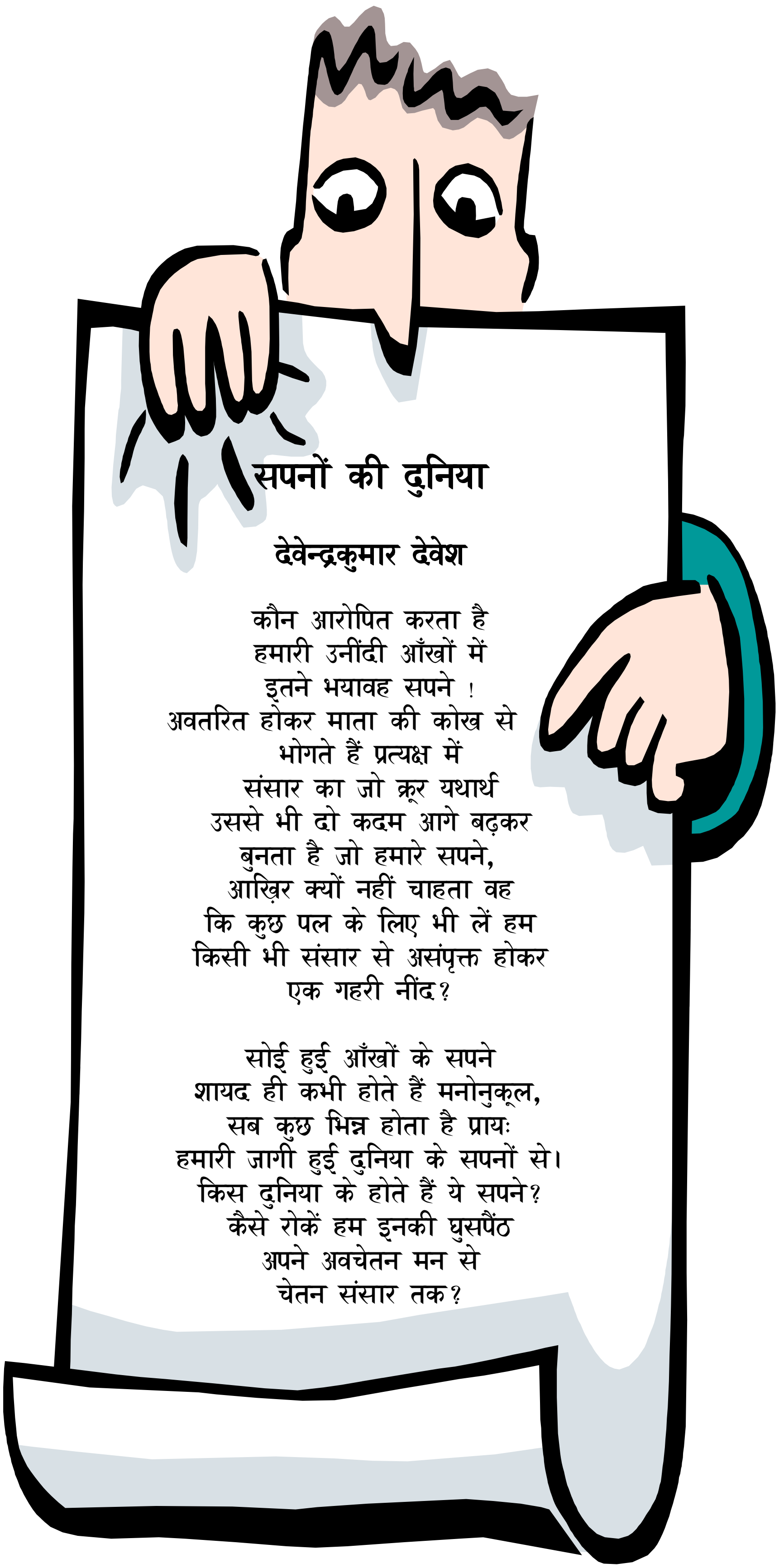

सपनों की दुनिया

देवेन्द्रकुमार देवेश

कौन आरोपित करता है
हमारी उनींदी आँखों में
इतने भयावह सपने !
अवतरित होकर माता की कोख से
भोगते हैं प्रत्यक्ष में
संसार का जो क्रूर यथार्थ
उससे भी दो कदम आगे बढ़कर
बुनता है जो हमारे सपने,
आख़िर क्यों नहीं चाहता वह
कि कुछ पल के लिए भी लें हम
किसी भी संसार से असंपृक्त होकर
एक गहरी नींद?

सोई हुई आँखों के सपने
शायद ही कभी होते हैं मनोनुकूल,
सब कुछ भिन्न होता है प्रायः
हमारी जागी हुई दुनिया के सपनों से।
किस दुनिया के होते हैं ये सपने?
कैसे रोकें हम इनकी घुसपैंठ
अपने अवचेतन मन से
चेतन संसार तक?

यदि कोई कभी
एक मोहक-सा सपना
तैर भी जाता है अनायास,
हमारी इस जागती दुनिया में
होती है मुश्किल
अवचेतन से चेतन की यात्रा में।
क्या कभी संभव है
कि सोते हुए देखें हम
ऐसे सपने,
जो जागने पर खोएँ नहीं।
शायद
इसीलिए देखना चाहता हूँ मैं
जागी हुई दुनिया में
जागते हुए
जागे हुए सपने।
सपने कभी सच नहीं होते
कि कभी-कभी सच भी हो जाते हैं,
पर सबके सब सपने
शायद ही कभी होते हैं सच
और
होते हैं क्यों सच से भी भयावह?
अथवा झूठ से भी सुन्दर?
कि चाहे जैसे भी हों
झूठ या सच,
मोहक अथवा डरावने,
सपनों की चाहत
बनी रहेगी हमेशा।

टुक ों-टुक ों में

माधुरी मिश्रा 'अदिति'

आदमी ने बाँट दिया है
ज़मीन को टुक ों-टुक ों में
गली-गली, मुहल्ले-मुहल्ले
और तो और देशों में
ज़मीन तो ज़मीन यहाँ तक कि
आकाश को भी
पर क्या?
बाँध पाया है मानव हवा को, खुशबू को
इन बादलों को, सूर्य की चमक को
जो हमको जीवन देते हैं
बाँट दिया है आदमी ने खुद को
ब्राह्मण और शूद्र में
मुस्लिम, हिन्दू, सिक्ख में
यहाँ तक कि रंग-भेद में
गोरे और काले में
पर क्या,
बाँध पाया है आदमी
प्यार की सीमाओं को
रगों में दौ ते खून को?

स्यापा मुका

विष्णु प्रभाकर

मैंने समाचार पढ़ लिया है और स्तब्ध रह गया हूँ। कई क्षण लगते हैं इस ज ता की स्थिति से उबरने में। फिर पढ़ता हूँ उस समाचार को अविश्वास से पर अन्दर तो अब तक सब कुछ टूट, बिखर गया है। किरच-किरच हो गया है मेरा संयम और किरच कैसे चुभती है. . . .

तभी सुमति उधर से गुज़रती है। स्वाभाव के अनुसार मुस्कराकर मेरी ओर देखती है और काँप उठती है, "क्या हुआ? क्या बात है?"

चुपचाप अखबार उसकी ओर बढ़ा देता हूँ। पढ़ते-न-पढ़ते एक दर्दनाक 'हाय' निकल जाती है उसके मुख से और चीर जाती है हम दोनों के अन्तर को। बदहवास सुमति का क्षण-भर पहले का मुस्कराता चेहरा राख हो गया है और वह इतना ही कह पाती है, "हाय रब्बा, यह क्या हुआ?"

दैनिक जनसत्ता के प्रथम पृष्ठ पर पंजाब के आतंवादियों की गतिविधियों का विवरण दिया हुआ था। उसी के बीच में बाक्स में एक सूचना थी, "परसों आतंकवादियों ने स्कूटर पर जाते दो भाइयों में से एक की निर्मम हत्या कर दी। छोटा भाई जो स्कूटर चला रहा था केशधारी सिख था। पीछे बैठा ब ा भाई मोना हिन्दू था। छोटे भाई मनजीतसिंह के बार-बार अनुनय करने पर भी ज़ालिमों ने ब े भाई डॉ. सर्वजीतसिंह को गोली मार दी और अपनी मोटर-साइकिल पर भाग गए। डॉ. सिंह स्थानीय कॉलेज में पंजाबी भाषा के प्राध्यापक और प्रख्यात् कथा-शिल्पी थे। मनजीतसिंह दिल्ली में वकालत करते हैं।

गोली लगने पर सर्वजीतसिंह गिर प े पर तुरंत मृत्यु नहीं हुई। बदहवास मनजीत यह कहते हुए, 'भइया ! मेरे आने तक जिन्दा रहना' डॉक्टर को लेने दौ ा। तभी हत्यारे फिर लौटे और सर्वजीत को जिन्दा पाकर उन्हें फिर गोली मार दी। भाई से लौटने से पहले सर्वजीत ने दम तो दिया. . . .।

फिर तार देने और दिल्ली जाने के लिए प्रबंध करने में पूरा दिन बीत गया। सकते की हालत में यंत्रवत् सब कुछ करता रहा। गा ी में भी एक भयानक ज ता ने आवृत्त किये रखा सब कुछ को। बीच-बीच में पुरानी यादें दस्तक दे जातीं मन के द्वारे। तब नाना रूप-चित्र उभर-उभरकर छाती को बहुत गहरे अंदर-अंदर तक चीर-चीर जाते. . . .

पूरे पच्चीस साल प ौसी रहा हूँ उन लोगों का। एक ही मकान में ऊपर-नीचे रहते प्रेम, विग्रह और संधि के न जाने कितने खेल खेले हमने। किसके पास है लेखाजोखा उनका पर एक बात हम निश्चित रूप से जानते थे कि हर खेल हमारे संबंधों को और गहरा कर गया है. . . .

गृहस्वामी सरदार देवेन्द्रसिंह को मैंने नहीं देखा। सुना बहुत है इनके बारे में। बेहद ईमानदार, भले और परदुख कातर व्यक्ति थे। दुनिया से जल्दी चले गए। भले मनुष्य जल्दी ही चले जाते हैं। सरदारनी अम्मा, हम उन्हें इसी नाम से पुकारते थे सदा, जब कभी पुरानी यादों में खोई होती तो अंत में आँखों में आँसू भरकर बोल उठती खोई-खोई, "इक देवता धरती पर उतरा सी। छेती नाल तुर गया। देवता छेती ही तुर जान्दे हैं। उणादा असली घर तो ओत्थे उप्पर ही तो होन्दा है।"

और वह देवता जब चला गया तो सरदारनी अम्मा रह गई थी अपने पाँच बच्चों के साथ, चार बेटे एक बेटी। सबसे ब ा सर्वजीत तेरह वर्ष का था और सबसे छोटा मनजीत तीन वर्ष का। पूँजी के नाम पर बस ईमानदारी और मेहनतकशी ही उन्हें विरासत में मिली थी। मैं साक्षी हूँ इस अनकथ-अनवरत संघर्ष का जो सरदारनी अम्मा ने अपनी संतान को देश का सच्चा नागरिक बनाने के लिए किया था। दिनभर कप े सी-सीकर घर चलाया उन्होंने और कभी किसी को किसी बात के लिए तरसने नहीं दिया।

सरदारनी अम्मा हिन्दू परिवार में जन्मी थीं पर पति के घर में सिख परम्परा का एक समर्पिता की तरह पालन करती थीं। वह उनके रक्त में रच-बस गई थीं ऐसे ही जैसे फूल में सुगंध। उनके दो बेटे केशधारी थे, दो मोने पर हर शुभ अवसर पर वे गुरु ग्रंथ साहब का पाठ करवाती थीं। उन दिनों घर में वह गहमागहमी मचती कि देवता भी धरती पर उतर आते। तीन दिन धूप-धूनी, झाँझ-मज़ीरों के साथ अखण्ड पाठ चलता। सवेरे ही सिर पर रुमाल डालकर मैं नास्तिक भी ग्रंथ साहब के आगे मत्था

टेकता, भेंट चढ़ाता, कुछ देर पाठ सुनता और अंत में क ाह प्रसाद लेकर लौटता। 'आसा दी वार' के समय सरदारनी अम्मा ब ी तेजी से जीना चढ़कर आती और उलाहना देती, "ओये भइये, मुझे वह सदा भइये कहकर पुकारती रही है, ओत्थे आसा दी वार होन्दी पयी और तू ऐत्थे बैठा। छेती नाल आ जा, सब तेरी राह देखदे पये।"

मैं तुरंत भीगी बिल्ली की तरह पीछे-पीछे जीना उरत जाता और पहले से ही वहाँ बैठी सुमति मेरी ओर देखकर व्यंग्य से मुस्करा देती। वह खाँटी सिख परिवार की बेटी है। हम दोनों एक साथ पढ़ते थे। वहीं प्रेम हुआ। कोर्ट-मैरिज की थी हमने पर सुमति जब-तब शरारत करने से बाज़ न आती। सरदारनी अम्मा से मेरी शिकायत करती रहती, 'देखो अम्मा जी, इन्हें समझाओ न। ईश्वर, धर्म-कर्म किसी में ज़रा भी आस्था नहीं इनकी।"

सरदारनी अम्मा उल्टा उसे उलाहना देतीं, " अरी तू भी कैसी सिक्खनी है। एक मर्द का मन नहीं बदल सकी।"

सुमति बिना सोचे-समझे बोल उठती, "ब े आये मर्द। पहली ही मुलाकत में चारों खाने चित्त कर दिया था।"

लेकिन दूसरे क्षण जैसे ही अपने शब्दों का अर्थ समझती तो मुँह में कप ा ठूँसकर भाग ख ी होती। तब सारा वातावरण मुक्त अट्टहास से गूँज-गूँज उठता. . . .

वही गूँज आज हिचकोले खाते इस डिब्बे में मेरी छाती को चीरे दे रही है जैसे पेचकश पेंच को अंदर और अंदर ऐंठता चला जाता है। कैसे बन जाता है सब कुछ अतीत। जिसको हमने जिया वह स्मृति का रूप कैसे ले लेता है. . . .

उनका प ौसी बने अभी साल ही हुआ होगा कि देखता हूँ कभी-कभी मनजीत मेरे पोस्ट-बॉक्स में से डाक निकाल लेता है और चिन्दी-चिन्दी करके इधर बिखेर देता है।

सुमति बोली, "सरदारनी अम्मा से मैंने कहा था। वे नाराज़ हो गईं। बोलीं तक नहीं सवेरे से। और मनजीत तबसे चिल्ला रहा है, फाडूँगा और फाडूँगा। बक्सा तो दूँगा।"

मुझे भी यह सब अच्छा नहीं लगा। बोला, "यह तो बुरी बात है। कुछ करना होगा।"

पर मैं नीचे जाकर नाटक नहीं करना चाहता था। चाहता था किसी समय अम्मा जी से बात करूँ लेकिन देखता हूँ कि सरदारनी अम्मा तभी ऊपर चली आ रहीं हैं। बेहद गम्भीर स्वर में कहती हैं, "बहू ! बच्चे तो राम मारे बन्दर होन्दे हैं। जिन्ना टालोगे उन्ना ही होर अ नगे। तुम ताला मार दो बक्से इच। इणादा क्या है। मैं तो बहुत टालया पर रु पु जाणिए एक नहीं सुणदे. . . ."

फिर उनका गला भर आता और मैं व्यस्त होकर बोल उठता, "अरे अम्माजी आप भी किस बात के लिए परेशान हो रही हैं। ये बंदर शैतानी नहीं करेंगे तो क्या सुमति और मैं करेंगे। मैं समझा दूँगा मनजीते को. . . .।

तभी मेरी नज़र मनजीत पर प ती है। वह न जाने कब आकर वहाँ ख ा हो गया है। अपना नाम सुनकर बोल उठता है, "भाईसाहब, मैंनू यह सवाल नहीं आवदा। समझा दीजिये।"

"ओए तू मेरी डाक क्यूँ फा दा?"

"अब नहीं फा ूँगा।" मनजीत ऐसी मासूमियत से कहता है कि हम सब खिलखिला प ते हैं। हर छोटे-मोटे झग े के बाद इस तरह खिलखिलाना मन को कैसे पवित्र कर जाता है। वाद से विवाद की ओर न जाकर सम्वाद की ओर लौट प ते हैं हम।

यही मनजीत एक दिन आयु की चिंता किए बिना मेरा सबसे प्यारा दोस्त बना। जब मैंने अवकाश प्राप्त कर इलाहाबाद में बसने का निश्चय किया तो सबसे ज़्यादा वही परेशान हुआ था। बराबर चिट्ठी लिखता, बराबर मिलने आता। अभी दस दिन पहले ही तो आया था और कह गया था, "आय भाभिए, ल की मैंने ढूँढ ली है पर जब तक तू हाँ नहीं करेगी मैं शादी नहीं करूँगा"

सुमति हँसी थी, "तब जन्म-भर बैठे रहना कुँआरे।"

"मैं तो बैठा रहूँगा पर दर्द तुम्हें ही होगा. . . .।"

मैं तेजी से गर्दन को झटका देता हूँ पर दृश्य तो बवण्डर की तरह स्मृति के द्वार से होकर मन के पटल पर बिखर जाते हैं। सरदारनी अम्मा जब सवेरे-सवेरे कोयलों की अँगीठी जलाती तो हमारा कमरा धुएँ से भर जाता और तब बहुत देर तक उसकी क वाहट हमारे दिलो-दिमाग को

उत्तेजित किए रहती। एक दिन साहस करके सुमति ने कहा, "अम्मा जी आज तो धुआँ कुछ बहुत ही उठ रहा है।"

अम्मा जी बोलीं, "बहू, मैं की नहीं जानदी पर करां की। साडे घर दा क वा धुआँ तो ऊपर ही जांदा है जीवें तुआड्डे घर दा गंदा पानी थल्ले ही आवेगा। उणादा सुभाव ऐही जो ठहरा। असि की कर सकणे।"

सुमति क्या जवाब दे लेकिन उनकी बेटी सुरिन्दर कौर कभी-कभी ब ा सटीक जवाब देती। पढ़ा होगा किसी किताब में, "पानी का स्वाभाव नीचे आना, धुएँ का स्वाभाव ऊपर जाना और आदमी का स्वाभाव ल ना।"

मुझे खूब याद है कि सरदारनी अम्मा एक बार लगभग चीख उठी थी, "ओए रु मु जाणिये, कित्थे पढ़ा सी तूने यह सबक। आदमी दा सुभाव ल ना नहीं, प्यार करना है।"

सुरिन्दर बोली, "ऐ वी मैन्नू पता है। ल न दे बाद ही तो प्यार किया जान्दा है।"

सरदारनी अम्मा अब हँसे सो हँसे, ओय कु ि ए तेरे पेटिच तो ब ी लंबी डाढी है।"

कितनी-कितनी प्यारी यादें पर कितनी पी ा देने वाली। क्या सोच रही होगी सरदारनी अम्मा आज। कैसा लग रहा होगा उनका वह भरा चेहरा। कैसे बन जाता है हैवान भला-चंगा इंसान। कैसे ढाने लगता है क़हर बेगुनाहों पर। कैसा लगा होगा मनजीत को....।

तीर की तरह एक हूक उठती है और मेरी चेतना चिथ े-चिथ े होकर बिखर जाती है। फिर मुझे कुछ पता नहीं रहता कि कब गाजियाबाद आया और कब सुमति ने मुझसे कहा, "एक प्याला चाय ले लो।"

मैं आँखें खोलता हूँ। सुमति की सूजी हुई लाल-लाल आँखें मुझ पर झुकी हुई हैं। जानता हूँ वह भी रात-भर नहीं सोई। मैं सप्रश्न उसकी ओर देखता हूँ। वह समझ जाती है। कहती है, "मैं भी ले रही हूँ उठो।"

यंत्रवत् हम चाय की एक-एक घूँट भरते रहते हैं। हर घूँट के साथ कुछ चेहरे आँखों में तैर जाते हैं कि अचानक मेरी दृष्टि उस समाचार-पत्र पर प ती है जो मेरे सामने की सीट पर बैठे सहयात्री ने खरीदा है। मैं उसे उठा लेता हूँ। मुख्य पृष्ठ पर वही पंजाब के आतंकवादियों के बारे में रिर्पोट है। बॉक्स में भी एक समाचार है, "धार्मिक उन्माद और पागलपन की भी एक सीमा होती है। अभी चार दिन पहले अमृतसर में बेगुनाह डॉ. सर्वजीत सिंह की हत्या इसलिए कर दी गई थी कि वे केशधारी नहीं थे। कल उनके छोटे भाई मनजीत सिंह की हत्या हरियाणा में करनाल के पास इसलिए कर दी गई कि वे केशधारी थे ....।"

चाय का पात्र हाथ से छूट जाता है। मैं काल और दिक् से निरपेक्ष शून्य में डूब जाता हूँ। सुमति की लाल-लाल डरावनी आँखें जैसे फट जाती हैं सीमाहीन विस्तार में....।

पता नहीं कैसे हुआ यह सब। कैसे हम उस घर की ड्योढ़ी तक पहुँचे। मौत का गहरा सन्नाटा व्याप्त था वहाँ। एक शब्दहीन अन्तर्रुदन में लिपटा था सब कुछ। कौन है वह सामने शोकाकुल महिलाओं से घिरी खम्भे से टिकी एक पत्थर की मूरत, बाल बिखरे, आँखें मुँदी, चेहरा भाव-शून्य एक जिंदा लाश....।

सुमति बदहवास दौ ती है और ब्रह्माण्ड को भेदता एक शब्द 'अम्मा जी' निकलता है उसके मुख से। फिर वहीं उस मूरत के पास ढेर हो जाती है। आपद मस्तक सिहरता-काँपता मैं पूरी शक्ति लगाकर अपने को समेट रहा हूँ और उस सूरत के पास सरक रहा हूँ कि उसमें जुम्बिश होती है। धीरे-धीरे पलकें उघ ती हैं, पुतलियों में हरक़त आती है और वे मुझपर टिक जाती हैं। कुछ टटोलती-सी। धुन्ध के पार दहकते दो शोले, पूरा वातावरण धधक रहा है उनमें....

मुझमें साहस नहीं है उस ताप को सहने का। ताज्जुब यही है कि अभी तक जिन्दा कैसे हूँ मैं कि उसी क्षण दूर क्षितिज के उस पार से जैसे एक आवाज़ उभरती है, जैसे पिघलता शीशा उ ेल दिया हो किसी ने मेरे कानों में, आ गया तू भइये। देख लित्ता। वाह गुरु ने राम नूँ कतल कर दित्ता, राम ने वाह गुरु नूँ। दोनों नस गए। स्यापा मुका....।

एक क्षण के लिए एक बेआवाज़ बेलौस हँसी उभरी उस पत्थर चेहरे पर और फिर सब कुछ पूर्ववत् हो गया।

मंदिर

मधुप मोहता

जब तुम सिखला रहे थे
ईटों को, घर न बनकर
चोट बन जाना,
तब, मैंने तुमसे कहा था।

मत बाँधो शांति के
महासागर पर
प्रतिहिंसा के बंदरगाह,
क्योंकि तब
आस्था के हिमालय
ढह जाते हैं
आशा का प्रायद्वीप
बंजर को जाता है।

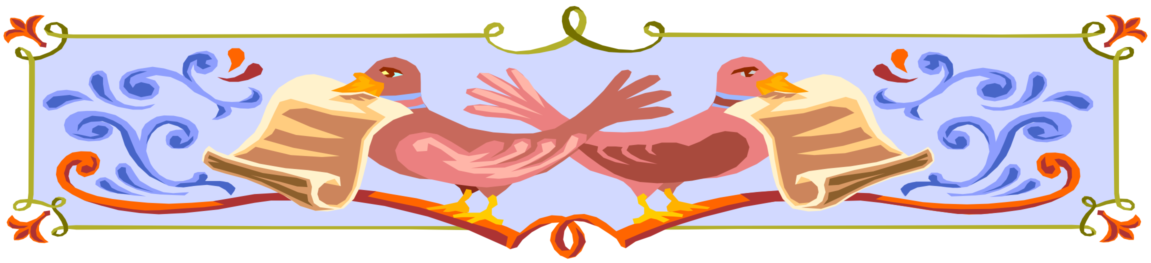

स्त्री

सुशीला पुरी

अरहर की तरह
सालों-साल
खुले आसमान तले
ख` रहने, जुटे रहने की
विवश अनिवार्यता।

अरहर की तरह
भुनकर-टूटकर
अलग-अलग होकर ही
मिली सार्थकता।

अरहर की तरह
गलकर, तरल होकर
पीलापन ओढ़कर ही
परोस पाई स्वाद।

अरहर की तरह
भिगोकर, मरो कर
पोर-पोर छीलकर
बना दी गई खाली टोकरी।

स्वतंत्रता दिवस पर हमारा संदेश

विष्णु नागर

प्रिय भाइयों और बहनों, यह अतीव प्रसन्नता की बात है कि हमारे महान देश को आज़ाद हुये कई वर्ष हो चुके है। यानी हमारी आज़ादी अब अधे हो चुकी है। उसका यौवन बीत चुका है। उसे बुढ़ापा आ रहा है। इस देश के सच्चे नागरिक के नाते आज के इस अवसर पर मैं आपसे यह आह्वान करना अपना कर्तव्य समझता हूँ कि आप गाँधीजी द्वारा दिलाई गई इस आज़ादी का बुढ़ापा आराम से गुज़रने दें। बेशक यह खाँसे-खखारेगी। बेशक उसका दम जल्दी से फूलेगा, फिर भी उसे फल-फ्रूट नसीब कराना हमारा दायित्व है, दवाइयाँ और इंजैक्शन के पैसे उसके पास रहने चाहिये। घर पर डॉक्टर बुलाने की फीस उसके पास होनी चाहिये। अगर उसे खून की ज़रूरत प` तो उसे तो कम से कम ब्लड बैंक से एड्स-रहित खून नसीब हो जाये। हमारी इस आज़ादी के बुढ़ापे की देखभाल ठीक से होनी चाहिये, यह मेरी आपसे विनम्र अपील है।

मित्रों, आज हमारी इस आज़ादी का जन्मदिन है। जन्मदिन किसी का हो, खुशी का दिन होता है। आज दुख-तकलीफ़ की बातें करना शोभा नहीं देता। लेकिन परम्परा है कि मैं कहूँ कि देश ख़तरे में है। मैं आपको विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि हम देश के नेता उस ख़तरे से बाहर हैं। हमने ब्लैक कमांडों की संख्या बढ़ा ली है और उनके बेहतर प्रशिक्षण की व्यवस्था की है। जहाँ तक देश का सवाल है, आप तो जानते ही हैं, उस पर ख़तरे आते हैं और चले जाते हैं। देश कोई व्यक्ति तो नहीं है न, कि ख़तरे से मर जाये। इसलिए मेरी आपसे करबद्ध प्रार्थना है कि आप बिल्कुल निश्चिंत रहिये। आप जानते हैं कि चिन्ता रोगों का घर है। इसलिए आपको चिन्ताओं से बचाने के लिए हमने दूरदर्शन को रंगीन बनाया है। वह भी अब आपको पसंद नहीं आ रहा है। मगर कोई बात नहीं। आप सी.एन.एन. देखिये। आप स्टार टी.वी. देखिये। जो चाहे देखिये। हमारी तो एक ही गुज़ारिश है कि इस देश में रहना है तो खुश रहिये। खुश न रह सकते हों तो फिर जहाँ चाहिए, जाइए। कहीं और जगह न मिले भा तो है ही आपके लिए।

दोस्तों आज शुभ अवसर है इसके बावजूद मुझे यह याद दिलाना प रहा है कि देश में साम्प्रदायिकता बढ़ रही है। वैसे तो यह चिन्ता की बात होनी चाहिये। लेकिन हर्ष की बात भी है क्योंकि उसी अनुपात में मंदिर-मस्जिद-गुरुद्वारे भी बढ़ रहे हैं। अब आप अधिक आसानी से इनमें जाकर ईश्वर से प्रार्थना कर सकते हैं कि सांप्रदायिकता को मिटाये। आप तो जानते ही हैं कि देश की जैसी हालत है, उसमें ईश्वर से प्रार्थना करना ही एकमात्र और कारगर उपाय है। हम भी यही करते हैं। आप भी यही कीजिये। यह भी मुझे याद आ रहा है कि देश में आतंकवाद बढ़ रहा है। इस समस्या पर हमने गहन विचार-विमर्श किया है। हम इस नतीज़े पर पहुँचे हैं कि जिस युग में सामंतवाद, समाजवाद, गाँधीवाद, पूँजीवाद यानी सारे 'वादों' का पतन हो रहा है, तब कम-से-कम आतंकवाद तो हमारे यहाँ जीवित है। देश में कोई तो 'वाद' होना चाहिए। दूसरे 'वाद' तो हमें विदेशों से लाने प ते हैं, मगर इसने तो हमारी स्वर्गादपि गरीयसी मातृभूमि से जन्म लिया है अतः यह गाँधीवाद की तरह कतई स्वदेशी है। हमें गाँधीवाद के बाद ऐसी स्वदेशी विचारधारा की तलाश थी, जो समय के साथ चल सके। आतंकवाद में वह क्षमता और संभावना है।

देश में गरीबी बढ़ने का सवाल भी अक्सर उठाया जाता है। लेकिन हमारे आलोचक यह भूल जाते हैं कि देश में अमीरी भी बढ़ रही है। यानी दोनों दिशाओं में समानान्तर और सतत विकास हो रहा है। भारत जैसे विकासशील देशों में ऐसा होना भी चाहिये। हम तो चाहते हैं कि भारत विकसित देशों की पाँत में बैठे। इसके लिए हम सबको मिल-जुलकर गरीबी और अमीरी का चरम 'विकास' करने का त्वरित कार्यक्रम हाथ में लेना होगा। 'विकास' आवश्यक है। इस महान कार्य में आप सबका सहयोग अपेक्षित है।

दोस्तों आज के दिन भी मैं यह भूल नहीं पा रहा कि देश में महिलाओं पर अत्याचार बढ़ रहे हैं। यह एक गंभीर समस्या है। संतोष की बात यह है कि इसी के साथ देश में पुरुषों के मुकाबले महिलाओं का अनुपात भी निरंतर घट रहा है। मुझे आशा ही नहीं, अपितु पूर्ण विश्वास है कि एक-न-

एक दिन भारत में स्त्रियों का अनुपात घटते-घटते शून्य तक पहुँच जायेगा। तब न महिलाएँ होंगी न उन पर अत्याचार होंगे। इसी को आम भाषा में कहते हैं : "न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी।"

शहीदों के बलिदान से प्राप्त हुई इस आजादी के जन्मदिन के शुभ अवसर पर मैं इस बात को भी नहीं भुला पा रहा हूँ कि देश में भ्रष्टाचार बढ़ रहा है। इस समस्या पर भी हमने गहन चिन्तन-मनन किया है। विशेषज्ञों से सलाह-मशविरा भी किया है। हम इस महत्वपूर्ण नतीज़े पर पहुँचे हैं कि अगर देश में भ्रष्टाचार बढ़ रहा है तो आबादी भी बढ़ रही है। इससे भ्रष्टाचार का प्रति व्यक्ति बोझ स्वतः घट रहा है। आशा है यह जानकर आपको राहत मिली होगी। यह हमारी सरकार की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। यह हमारी आर्थिक नीति की सफलता का प्रमाण है।

तो आइये आप सब मेरे साथ मिलकर बोलिये : "जय हिन्द।"

अरे, आप लोग बोल नहीं रहे? क्या आज स्वतंत्रता दिवस पर भी आपने रोटी नहीं खाई है? यह देखा जा रहा है कि देश की गरीब जनता को भूखा रहने की गंदी आदत प ती जा रही है। यह ठीक बात नहीं है। इससे देश की प्रतिष्ठा गिरती है। विदेशों में माननीय वित्त मंत्री को कर्ज़ मिलने में कठिनाई होती है। लेकिन ख़ैर आज छोा ये इन बातों को। आज ख़ुशी का दिन है। मैं आज के दिन किसी को डाँटने-फटकारने-को` लगवाने में विश्वास नहीं करता। आखिर यह आज़ादी का दिन है। इसलिए आप सबकी ओर से मैं खुद ही तीन बार बोल देता हूँ. जय हिन्द, जय हिन्द, जय हिन्द।

अब आप लोग आराम से घर जाइये। याद रखिये कि आज ख़ुशी का दिन है। कम-से-कम आज भूखे मत रहिये। आज हवा तो अवश्य ही खाइये।

धन्यवाद।

श्रद्धांजलि
पाराशर गौ

नेता जी
देश के अंतिम
क्रांतिकारी को
श्रद्धांजलि दे रहे थे।
"आपने देश के लिए
सब कुछ त्याग
दर-दर की ठोकरें खाईं
जान दी;
आपने कुर्सी को ठोकर मारी
हमने थाम ली।
आप महान थे,
आप महान हैं।"
पीछे मु कर किसी से पूछा,
अरे ! जो मरा है
उसका नाम क्या है?

रुको पथिक

सरन घई

रुको पथिक विश्राम तनिक लो,
जीवन पथ की राह कठिन है,
पथानुकूल समय भी कम है,
बाधाओं से अटा है जीवन,
ठहरो पहले राह समझ लो,
रुको पथिक विश्राम तनिक लो।

भूल गया पिछला जो पल था,
छूट गया जो राग सरल था,
आगे दुर्गम अँधियारा है,
हर ज़ोखिम की थाह समझ लो,
रुको पथिक विश्राम तनिक लो।

आगे बढ़ना ही जीवन है,
रुक जाना ही अंतिम पल है,
बिना रुके आगे बढ़ जाना,
ज़ोखिम का है काम समझ लो,
रुको पथिक विश्राम तनिक लो।

रोकें जब रस्ता बाधाएँ,
व्याकुल कर दें जब विपदाएँ,
पग-प्रतिपग गतिमान रहे पथ,
पथिक धर्म का मर्म समझ लो,
रुको पथिक विश्राम तनिक लो।

तुम्हें पहुँचना है मंजिल पर,
यही धर्म है यही सत्य है,
इसी प्रेरणा से अनुप्रेरित,
जीवन गति विस्तार समझ लो,
रुको पथिक विश्राम तनिक लो,
रुको पथिक विश्राम तनिक लो।

सहारे

कमल कपूर

"बेटा, तुम बिदेस जा बसे, तुम्हारी बहनें अपने घर चली गईं, और बाबूजी साँचे घर, और रह गई इतने ब` घर में मैं अकेली जान। दिन पहा से भारी लगते हैं और रातें समंदरों-सी लंबी, जिनके पार तुम जा बसे हो। जीवन की यह गहरी साँझ मैं बेटे-बहू और पोते-पोती के साथ गुज़ारना चाहती हूँ। कहते हैं बेटा माँ के बुढ़ापे की लाठी होता है इसलिए या तो आकर मुझे सहारा दे दो या वहीं अपने पास बुला लो।"

आँसुओं से भीगे माँ के ख़त का जवाब आया बीस दिन बाद, अमेरिका से आये पुत्र के एक प्रवासी मित्र के हाथ....साथ में एक ब ा-सा पार्सल भी था। माँ ने डोलते मन से ख़त पढ़ा, "मॉम, मैं कैसे समझाऊँ? मेरा आना भी नामुमकिन है और आपको बुलाना भी। और मैं क्या सहारा दूँगा आपको? लीजिये, मैं एक नहीं कई सहारे भेज रहा हूँ।"

माँ ने काँपते हाथों पार्सल खोला....सुनहरी कमानी का चश्मा, मँहगी घ ी, फोल्डिंग छ ी, पोते-पोती की मीठी बातों के कैसेट्स, रंगारंग तस्वीरें, गर्म-नर्म ओवरकोट और चंद डॉलर्स थे उसमें।

माँ भीगी आँखों से उन सहारों को देख रही थी, जिनके सहारे उसे ज़िन्दगी के बचे-खुचे पहा -से भारी दिन और समंदर-सी लम्बी रातें काटनी थीं।

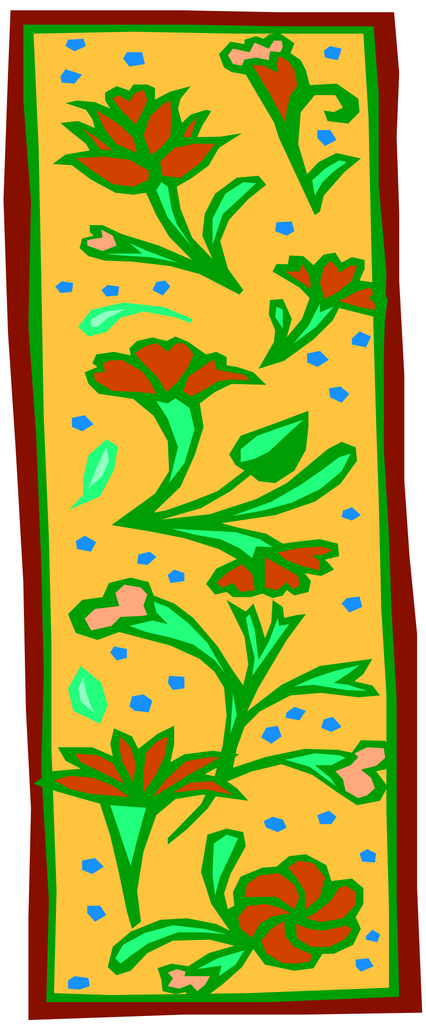

खुली आँख सपने देखें

सावित्री शर्मा

जी करता है नेह जियें
एकाकीपन खलता।
कितना कुछ भी करें
हमारे संग-संग चलता।।

कहने को तो भी बहुत
पर सब खोये-खोये।
खुली आँख सपने देखें
लगते सोये-सोये।।

जी करता है गेह जियें
बंजारापन खलता।
कितना कुछ भी करें
हमारे संग-संग चलता।।

गंध उ गई है फूलों की
क्यारी कुम्हलाई।
आँगन की तुलसी सूखी
तो आँखें भर आईं।।

जी करता है मेह जियें
संताप-ताप खलता।
कितना कुछ भी करें
हमारे संग-संग चलता।।

मेरा सपना

आशमा कौल

एक सपना पलता रहा
मेरे अन्दर
जिसे मैं पल-पल
जीती रही
वह मेरे रक्त पर
जीता रहा
वह मुस्कुराता, गुनगुनाता
सिमटता, लिपटता
और मचलता कभी।

मैं हर क्षण
उसमें रंग भरती
अपनी कल्पनाओं के
नई आशाओं के !

वह सपना आज
साकार हो गया है
मेरे प्यार ने आकार लिया है,
मेरे फूलों को महक
आँखों को रोशनी
और अधरों को
ममता का साज मिला है
यानी मुझे मेरा
वज़ूद मिला है।

धरा हमारी

अंजु दुआ जैमिनी

ये मेरी धरा है
यहाँ तक मेरी है
सिर्फ़ मेरी
कश्मीर से कन्याकुमारी तक
इन वादियों को चुराया तुमने
निर्दोषों का खून बहाया तुमने
बंदूकों हथगोलों से
हरियाली को मिटाया तुमने
हँसते फूलों को रुलाया तुमने
शिकारे की मस्त चाल को
कुल्ह   के गर्म कहवे को
शोलों से राख बनाया तुमने।
बच्चे, बूढ़े, जवान, स्त्रियाँ
जाने कितनी कुचली कलियाँ
हड्डियों को चूसा, चिचो ा और चीरा
कुचला, मसला, बिखेरा और उ ाया।
पर्वत की वो चोटी
तब से रो रही है
ये खूबसूरत घाटी चुपचाप सो रही है
सिली-सिली हवा आँखें धो रही है
सूरज की किरणें घुलती हुई खो रही हैं
हाहाकर करती मानवता ग़मों का बोझ ढो रही है
दुश्मनों ने नरक बनाया, स्वर्ग को जला डाला।
फिर भी
न हटेंगे हम, न झुकेंगे हम
न थकेंगे हम, न टूटेंगे हम
हर कदम आगे बढ़ेंगे हम
खदे ेंगे, ललकारेंगे, दुश्मन को मार भगाएँगे।
इस धरा की सुन्दरता में
फिर से चार चाँद लगाएँगे।
हवा, फूल, फल, पंछी, बादल, नदी, पर्वत,
वृक्ष, सूरज, चाँद सब हमारे हैं
ये धरा हमारी है,
हमारी है और हमारी है।

स्नेह ठाकुर की प्रकाशित पुस्तकें

अनमोल हास्य क्षण	(नाटक-संग्रह)
जीवन के रंग	(काव्य-संग्रह)
दर्दे-ज़ुबाँ	(नज़्म व ग़ज़ल संग्रह)
आज का पुरुष	(कहानी-संग्रह)
जीवन-निधि	(काव्य-संग्रह)
आत्म-गुंजन	(आध्यात्मिक-दार्शनिक गीत)
हास-परिहास	(हास्य कविताएँ)
ज़ज़्बातों का सिलसिला	(काव्य-संग्रह)
The Galaxy Within	(A collection of English poems)
अनुभूतियाँ	(काव्य-संग्रह)
काव्य-वृष्टि	(संकलन एवं संपादन)
पूरब-पश्चिम	(आप्रवासी सम्बन्धित आलेख संग्रह)
बौछार	(संकलन एवं संपादन)
काव्य हीरक	(संकलन एवं संपादन)
संजीवनी	(स्वास्थ्य सम्बन्धी लेख)
उपनिषद् दर्शन	(अध्यात्मिक)
काव्य-धारा	(संकलन एवं संपादन)
काव्यांजलि	(काव्य-संग्रह)
अनोखा साथी	(कहानी-संग्रह)

प्रकाशक व वितरक

स्टार पब्लिकेशंज़ (प्रा.) लि.
४/५ बी., आसफ अली रोड
नई दिल्ली - ११०००२
भारत
Star Publishers' Distributors
55, Warren Street
LONDON – W1T 5NW
England

दिल्ली प्रेस की सरिता व अन्य राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय
पत्रिकाओं में भी रचनाएँ प्रकाशित